बच्चे कब क्या सीखते हैं ?

अ० अ० 'अनन्त'

भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली-३

प्रकाशक .
एन० डी० सहगल एण्ड सज, दिल्ली

प्रमुख वितरक :
भारती भाषा प्रकाशन
५१८/६ बी, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-३२

संस्करण, १९७५

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक :
हरिहर प्रेस,
चावड़ी बाजार, दिल्ली

विषय-सूची

वंशानुसंक्रमण और वातावरण

वालको के विकास मे जिन कारको का प्रमुख हाथ है उनमे वशानु-सक्रमण और वातावरण दो अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक हैं। हम ससार मे सम्पूर्ण इन्द्रियो-सहित शरीर के साथ पदार्पण करते हैं। हमारे माता-पिता हमे शारीरिक साधन और बौद्धिक सामर्थ्य देते है, जिससे कि हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। जब हम वडे होते हैं तो हमारे माता-पिता की दी हुई शक्तियाँ विकसित होने लगती हैं। इस प्रकार हम असहाय शिशु से एक सामाजिक प्राणी वन जाते हैं। इस सामाजिक व्यक्तित्व के विकास मे सामाजिक वातावरण हमारे व्यवहारो और कार्यों को नियत्रित और व्यवस्थित करता है। पर दूसरी पृष्ठभूमि मे वशानुसक्रमण हमारे जीवन को वहुत अधिक प्रभावित करता है।

वशानुसक्रमण (Heredity) और वातावरण के सम्बन्ध की समस्या न केवल गम्भीर ही है अपितु प्राचीन भी है। जब से मनुष्य ने अपने और अपनी परिस्थितियो के बारे मे सोचा है तब से उसे जीवित पदार्थों की इस सार्वभौमिक विशेपता का ज्ञान हुआ है। हमारी सभ्यता का विकास नही हो सकता था, यदि मनुष्य पौधो और पशुओ को पालतू वनाने के लिए वशानुसक्रमण के सिद्धान्त को समझ न पाता। अरस्तू से लेकर आज तक के विद्वानो ने इस समस्या पर अपने विचार प्रकट किये हैं, पर साम्यवाद के विकास के बाद वैज्ञानिको के अब दो वर्ग हो गए हैं—(१) पूंजीवादी वैज्ञानिक और (२) साम्यवादी वैज्ञानिक। प्रथम वर्ग के वैज्ञानिक वशानुसक्रमण को अधिक महत्व देते हैं जबकि।

द्वितीय वर्ग के वैज्ञानिक वातावरण को अधिक महत्वपूर्ण मानते है।

बहुधा एक दम्पती की सन्तानो के शारीरिक लक्षणो मे समानता पाई जाती है। वच्चा जव उत्पन्न होता है तो पडोस की स्त्रियाँ स्वभावत वच्चे की आकृति के विभिन्न लक्षणो की तुलना माता-पिता की आकृति से करने लगती हैं। कभी-कभी किसी वच्चे की आकृति पूर्वजो से भी मिल जाती है। चीनी स्त्री-पुरुष के वच्चे की आँखें वादाम के शक्ल की छोटी-छोटी होती है और खाल का रग पीला होता है। नीग्रो जाति की सन्तानो के शारीरिक लक्षण नीग्रो माता-पिता से ही मिलते हैं। शारीरिक लक्षणो की इस समानता को दोनो वर्गों के विचारको ने अपने-अपने पक्ष द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है।

न केवल हमे शारीरिक लक्षणो की समानता के ही दर्शन होते हैं वल्कि असमानता के भी दर्शन होते है। हम जितनी भी मुखाकृतियो को वाजार मे देखते है, उन्हे एक-दूसरे से विभिन्न पाते है। चाहे भाइयो और वहिनो मे कितनी भी समानता क्यो न हो पर कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होगा। इस अन्तर का कारण भी वशानुसक्रमण या वातावरण ही है। इस वितण्डावाद को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम वशानुसक्रमण के अर्थ को समझे।

वशानुसक्रमण की परिभाषा

वशानुसंक्रमण का ज्ञान जनन-विद्या (Genetics) के ज्ञान मे सम्वन्धित है। अतएव यह आवश्यक है कि जनन-विद्या के उन सिद्धान्तो को जान लें जो वंशानुसक्रमण के अर्थ से सम्वन्धित हैं।

आज से सौ वर्ष पूर्व मेन्डेल नामक एक पादरी ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसने वशानुसक्रमण-सम्वन्धी विचारो को एकदम परिवर्तित कर दिया है। मेन्डेल और डार्विन के वैज्ञानिक अन्वेषणो ने पिछले ५० वर्षों मे क्रान्तिकारी गवेषणाओ मे सहयोग दिया है। पहले मनुष्य यह सोचते थे कि वच्चे मे माता-पिता के शारीरिक लक्षणो का एक मिश्रण होता है, क्योकि मैथुन द्वारा दोनो के रक्तो का सम्मिश्रण

होता है। इस अवैज्ञानिक धारणा के अनुसार यदि माता गौर वर्ण की है और पिता कृष्ण वर्ण का है तो बच्चे का वर्ण दोनो वर्णों के बीच का अर्थात् सांवला होगा। मेन्डेल ने यह सिद्ध किया कि वास्तव मे रक्त द्वारा बच्चो मे पैतृक गुण नही आते। पैतृक गुण तो अपरिवर्तनशील उन लघु अणुओ द्वारा एक पीढी से दूसरी पीढी मे आते है, जिन्हे हम पित्र्यैक (Gene) कहते हैं। यह अग्रेजी शब्द उसी ग्रीक शब्द से बना है जिसका अर्थ रचना या प्रारम्भ होता है।

पित्र्यैक (Gene) वास्तव मे हममे से सबके प्रारम्भ का कारण हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा भी अदृष्ट रहते हैं और इनकी सख्या इतनी अधिक होती है कि ये हमारे सब अगणित शारीरिक लक्षणो को निश्चित करते है। पित्र्यैक को मेन्डेल ने दो प्रकार पाया—(१) प्रबल (Dominant) (२) गौण (Recessive)। प्रबल पित्र्यैक (Gene) वे होते हैं जो कि मनुष्यो के शारीरिक लक्षणो पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। गौण पित्र्यैक वे होते हैं जो मनुष्य के शरीर मे रहते हुए भी अपना प्रभाव नही दिखा पाते। यदि पिता के किसी शारीरिक लक्षण का अनुरूप बच्चे मे न हो और बाबा या परबाबा का अनुरूप हो तो पिता के पित्र्यैक (Gene) गौण हो गए और बाबा या परबाबा के पित्र्यैक (Gene) प्रबल हो गए।

इस प्रकार हमारे मस्तिष्क मे वशानुसक्रमण के अर्थ के बारे मे एक धूमिल-सी धारणा बन गई होगी। साधारण रीति से हमे माता-पिता द्वारा जो कुछ भी शारीरिक सम्पत्ति मिलती है उसे हम वशानुसक्रमण (Heredity) कहते हैं। इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से हो सकती है। माता-पिता से हमे मूलरूप से जो कुछ भी शारीरिक विशेषताएँ पित्र्य-सूत्रो द्वारा मिलती हैं उन्हे हम वशानुसक्रमण कहते हैं।

वशानुसक्रमण के अर्थ को समझाने के बाद हम सरलतापूर्वक वशानुसक्रमण और वातावरण के विवाद को समझ सकते हैं। वशानुसक्रमणवादियो के अनुसार शारीरिक और मानसिक विशेषताओ का

निर्णय पित्र्यैको द्वारा किया जा सकता है, क्योकि हम ये सारी विशेष-ताएँ किसी-न-किसी रूप मे माता-पिता से पित्र्यैको (Genes) द्वार पाते हैं। इसीलिए प्राचीनकाल मे यौन-सम्बन्धो पर मनुस्मृति-बाइबिल आदि सभी धर्मग्रन्थो मे कुछ-न-कुछ नियम पाए जाते हैं। वातावरण वादियो का कहना है कि मनुष्य की अधिकतर शारीरिक और मानसिक विशेषताएं तथा व्यक्तित्व वातावरण पर निर्भर करता है, क्योकि वशानु-सक्रमण मनुष्य के पाशविक रूप की व्याख्या करता है जबकि वातावरण मनुष्य के मानव-स्वरूप की व्याख्या करता है। विना मानव-समाज के यह असम्भव है कि मनुष्य का मानव एव सामाजिक स्वरूप विकसित हो सके। अरस्तू ने भी कहा है कि जो व्यक्ति समाज मे नही रह सकता या जिसे समाज मे रहने की कोई आवश्यकता नही है, तो ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से पशु या एक देवता है। इन दोनो वर्गों के प्रमुख लेखको ने गवेषणाओ द्वारा अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। इन गवे-षणाओ को हम चार भागो मे विभक्त कर सकते है—(१) शारीरिक लक्षण, (२) बुद्धि, (३) स्वभाव और चित्त के आवेग, (४) दोनो लिंगो के व्यक्तित्व मे अन्तर। चारो मनुष्य के व्यक्तित्व के भाग हैं।

इस प्रकार हम यह देखेंगे कि शारीरिक लक्षणो, स्वभाव और चित्त के आवेगो और बौद्धिक लक्षणो के विकास मे वातावरण का प्रभाव अधिक है या प्रजातीय (Racial) अथवा पैतृक (Ancestral) वशानुसक्रमण का। इसके साथ-साथ हम यह भी देखेंगे कि स्त्रियो व पुरुषो के व्यक्तित्व के भेद मे लिंग-भेद का प्रमुख हाथ है अथवा वाता-वरण का।

शारीरिक लक्षण

शारीरिक लक्षणो के बारे मे दो प्रमुख प्रकार के अध्ययन हुए हैं। प्रथम अध्ययन दो विभिन्न प्रजातीय वर्गों के मनुष्यो की शारीरिक रचनाओ की तुलना पर आश्रित है। द्वितीय अध्ययन माता-पिता व बच्चो की शारीरिक रचनाओ की तुलना पर आश्रित है।

प्रजातीय

शारीरिक लक्षणो की तुलना बौद्धिक लक्षणो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, सरल व मूर्त (Concrete) है। एक अध्ययन मे जापानी और अमरीकी सिपाहियो की लम्बाई की तुलना की गई है। जापानी सिपाहियो की ऊँचाई ५६ इच से कुछ कम से लेकर ६९ इच तक पाई गई है। दोनो प्रजातीय वर्गों के सैनिको की औसत ऊँचाई क्रमश ६३ २४ और ६७ ५१ इच है। इस अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि दोनो प्रजातीय समूह (Racial Stocks) की शारीरिक रचना विशेष रूप से ऊँचाई की विभिन्नता वशानुसंक्रमण (Heredity) पर आश्रित है। यह धारणा सत्य नही है, क्योकि इन दोनो प्रजातीयो (Races) के सब पुरुषो का तुलनात्मक अध्ययन नही है। यह तो केवल कुछ सैनिको की शारीरिक रचना पर ही आश्रित है। इसके अतिरिक्त दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अध्ययन से दोनो प्रजातीयो (Races) के सैनिको के वातावरण के अन्तर का विचार नही किया गया है। हम यह किसी भी प्रकार नही मान सकते कि जीवन की दशाओ, भोजन के प्रकारो, जलवायु की विभिन्नताओ का कोई भी प्रभाव शारीरिक रचना पर नही पडता। जापान मे चावल अधिक खाया जाता है जिसमे कैलशियम (Calcium) की कमी होती है। हो सकता है कि जापानी सिपाहियो की शारीरिक रचना पर चावल के भोजन का और जापानी जलवायु का प्रभाव पडा हो। एक बात और भी सम्भव है। जब दो विभिन्न प्रकार की नस्लो का मिश्रण होता है तो सन्तान अधिक बलशाली होती है। चूंकि अमेरिका के निवासी विभिन्न देशो और प्रजातीयो (Races) की मिश्रित सन्तान (Hybrid) है। सम्भवत. इसलिए भी उनकी शारीरिक रचना जापानी सैनिको की अपेक्षा अच्छी हो सकती है।

पैतृक

'कार्ल पियर्सन' ने अपनी प्रयोगशाला मे माता-पिता और बच्चो की ऊँचाई के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन किया है। उसके अध्ययन का यह निष्कर्ष है कि माता-पिता और बच्चो की ऊँचाई का पारस्परिक सम्बन्ध +५० है। इस अध्ययन से वशानुसक्रमण के सिद्धान्त को मानने वाले विचारको ने वशानुसक्रमण को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। उनका कहना है कि यदि माता-पिता की शारीरिक ऊँचाई अच्छी है तो बच्चो की शारीरिक ऊँचाई भी अच्छी होगी। यदि माता-पिता की शारीरिक ऊँचाई कम है तो बच्चो की शारीरिक ऊँचाई भी कम रह जायेगी।

इस अध्ययन मे भी वही कमी है जो कि पहले अध्ययन मे थी। वातावरण के प्रभाव की उसी प्रकार उपेक्षा की गई। यह असम्भव है कि बच्चो को अपने माता-पिता की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सन्तुलित (Balanced) और पौष्टिक (Nutritious) भोजन मिलता हो, क्योकि इस पीढी मे भोजन-सम्बन्धी अनेक खोजे हुई हैं। माता-पिता को इतना सतुलित और पौष्टिक भोजन न मिल पाया हो और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की आर्थिक दशा बिगड गई हो जिससे कि बच्चो को उचित भोजन न मिल पाए। इस बात का विश्वसनीय प्रमाण हमारे पास है कि जब बच्चो को प्रतिकूल दशाओ मे रहना पडता है और भोजन उचित नही मिल पाता तो उनके शरीर की ऊँचाई और तौल कम हो जाता है। ऊँचाई बढने के पक्ष मे 'फ्रैन्ज बोआस' (Franz Boas) ने देशान्तरो से आकर अमेरिका मे बसने वाले यहूदी और जापानी व्यक्तियो के अमेरिका मे पैदा हुए बच्चो का अध्ययन किया है। इन बच्चो मे न केवल अपने माता-पिता की ऊँचाई से दो इंच अधिक ऊँचाई बढी, बल्कि उनकी सिर की बनावट मे भी परिवर्तन हो गया।

शारीरिक रचना पर वशानुसक्रमण और वातावरण के प्रभावो के अध्ययन के सम्बन्ध मे दो बातो का और ध्यान रखना चाहिए। गर्भाधान के काल मे ही शरीर की ऊँचाई वाले पित्र्यैको (Genes) पर अगणित

प्रभाव पडते हैं जिसके कारण वशानुसक्रमण या वातावरण का निश्चित प्रभाव नही जाना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी वात यह है कि वातावरण के प्रभाव का अध्ययन हम एक पीढी मे नही कर सकते। वच्चे के प्रथम शारीरिक कोष्ठ (Body Cell) पर पिछली पीढी के वातावरण का प्रभाव माता-पिता के उत्पादक कोष्ठो द्वारा बना रहता है। इसलिए हम उपर्युक्त अध्ययनो के आधार पर किसी भी निश्चित और वैज्ञानिक निर्णय पर नही पहुँच सकते। हाँ, हम अतीत काल से पडने वाले वशानुसक्रमण और वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नही कर सकते। और इस बात से भी इनकार नही कर सकते कि शारीरिक लक्षणो पर वशानुसक्रमण का काफी प्रभाव पडता है।

स्वभ व और चित्त के आवेग

मनुष्य को जन्म से न केवल कुछ चालक (Drive) कार्य ही करने को प्राप्त होते हैं, वल्कि उसे भावनाओ का अनुभव करने की शक्ति वशानुसक्रमण से प्राप्त होती है। यह सत्य है कि मनुष्य मे चित्त के आवेग या भावनाएँ (Emotions) होती हैं। पर यह स्पष्ट नही है कि ये वशानुसक्रमण से किस प्रकार प्राप्त होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि बच्चो की भावनाएँ अपने माता-पिता से विशेष रूप से मिलती हैं। यह कथन १९१९ मे वाटसन (Watson) द्वारा किए गए प्रयोगो पर आश्रित है। उनका यह कहना है कि जन्म से शिशु को प्रेम, भय और क्रोध ये तीन प्रकार के आवेग प्राप्त होते हैं। पर कुछ अन्य अध्ययनो द्वारा वाटसन के कथन को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया गया है। वास्तव मे नवजात शिशु को वशानुसक्रमण द्वारा विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न प्रकार के आवेगो को व्यक्त करने का सामान्य सामर्थ्य होता है। पर यह निश्चित नही होता कि उन आवेगो के वश मे वच्चे का व्यवहार क्या होगा। सामान्य परिस्थिति मे सब वच्चो के आवेगो की अभिव्यक्ति समान नही होती।

मनुष्य के व्यवहारों पर या भावनाओ की अभिव्यक्ति पर सस्कृति का प्रभाव वशानुसक्रमण से कही अधिक होता है। अडेमन निवासियो और

पैतृक

'कार्ल पियर्सन' ने अपनी प्रयोगशाला मे माता-पिता और बच्चो की ऊँचाई के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन किया है। उसके अध्ययन का यह निष्कर्ष है कि माता-पिता और बच्चो की ऊँचाई का पारस्परिक सम्बन्ध +५० है। इस अध्ययन से वशानुसक्रमण के सिद्धान्त को मानने वाले विचारको ने वशानुसक्रमण को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। उनका कहना है कि यदि माता-पिता की शारीरिक ऊँचाई अच्छी है तो बच्चो की शारीरिक ऊँचाई भी अच्छी होगी। यदि माता-पिता की शारीरिक ऊँचाई कम है तो बच्चो की शारीरिक ऊँचाई भी कम रह जायेगी।

इस अध्ययन मे भी वही कमी है जो कि पहले अध्ययन मे थी। वातावरण के प्रभाव की उसी प्रकार उपेक्षा की गई। यह असम्भव है कि बच्चो को अपने माता-पिता की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सन्तुलित (Balanced) और पौष्टिक (Nutritious) भोजन मिलता हो, क्योकि इस पीढी मे भोजन-सम्बन्धी अनेक खोजे हुई हैं। माता-पिता को इतना सतुलित और पौष्टिक भोजन न मिल पाया हो और यह भी हो सकता है कि माता-पिता की आर्थिक दशा बिगड गई हो जिससे कि बच्चो को उचित भोजन न मिल पाए। इस बात का विश्वसनीय प्रमाण हमारे पास है कि जब बच्चो को प्रतिकूल दशाओ मे रहना पडता है और भोजन उचित नही मिल पाता तो उनके शरीर की ऊँचाई और तौल कम हो जाता है। ऊँचाई बढने के पक्ष मे 'फ्रैन्ज बोआस' (Franz Boas) ने देशान्तरो से आकर अमेरिका मे बसने वाले यहूदी और जापानी व्यक्तियो के अमेरिका मे पैदा हुए बच्चो का अध्ययन किया है। इन बच्चो मे न केवल अपने माता-पिता की ऊँचाई से दो इंच अधिक ऊँचाई बढी, बल्कि उनकी सिर की बनावट मे भी परिवर्तन हो गया।

शारीरिक रचना पर वशानुसक्रमण और वातावरण के प्रभावो के अध्ययन के सम्बन्ध मे दो बातो का और ध्यान रखना चाहिए। गर्भाधान के काल से ही शरीर की ऊँचाई वाले पित्र्यैको (Genes) पर अगणित

प्रभाव पडते हैं जिसके कारण वशानुसक्रमण या वातावरण का निश्चित प्रभाव नही जाना जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी वात यह है कि वातावरण के प्रभाव का अध्ययन हम एक पीढी मे नही कर सकते। वच्चे के प्रथम शारीरिक कोष्ठ (Body Cell) पर पिछली पीढी के वातावरण का प्रभाव माता-पिता के उत्पादक कोष्ठो द्वारा वना रहता है। इसलिए हम उपर्युक्त अध्ययनो के आधार पर किसी भी निश्चित और वैज्ञानिक निर्णय पर नही पहुँच सकते। हाँ, हम अतीत काल से पडने वाले वशानुसक्रमण और वातावरण के प्रभाव की उपेक्षा नही कर सकते। और इस वात से भी इनकार नही कर सकते कि शारीरिक लक्षणो पर वशानुसक्रमण का काफी प्रभाव पडता है।

स्वभ व और चित्त के आवेग

मनुष्य को जन्म से न केवल कुछ चालक (Drive) कार्य ही करने को प्राप्त होते हैं, बल्कि उसे भावनाओ का अनुभव करने की शक्ति वशानुसक्रमण से प्राप्त होती है। यह सत्य है कि मनुष्य मे चित्त के आवेग या भावनाएँ (Emotions) होती हैं। पर यह स्पष्ट नही है कि ये वशानुसक्रमण से किस प्रकार प्राप्त होती हैं। ऐसा कहा जाता है कि वच्चो की भावनाएँ अपने माता-पिता से विशेष रूप से मिलती हैं। यह कथन १९१९ मे वाटसन (Watson) द्वारा किए गए प्रयोगो पर आश्रित है। उनका यह कहना है कि जन्म से शिशु को प्रेम, भय और क्रोध ये तीन प्रकार के आवेग प्राप्त होते हैं। पर कुछ अन्य अध्ययनो द्वारा वाटसन के कथन को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया गया है। वास्तव मे नवजात शिशु को वशानुसक्रमण द्वारा विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न प्रकार के आवेगो को व्यक्त करने का सामान्य सामर्थ्य होता है। पर यह निश्चित नही होता कि उन आवेगो के वश मे वच्चे का व्यवहार क्या होगा। सामान्य परिस्थिति मे सब वच्चो के आवेगो की अभिव्यक्ति समान नही होती।

मनुष्य के व्यवहारो पर या भावनाओ की अभिव्यक्ति पर सस्कृति का प्रभाव वशानुसक्रमण से कही अधिक होता है। अडेमन निवासियो और

न्यूज़ीलैण्ड की माओरी (Macri) वन्यजाति मे जब बहुत दिनो बाद मित्र मिलते हैं तो रोकर वे एक-दूसरे का स्वागत करते हैं। भारतवर्ष मे भी भारतीय सस्कृति के अनुसार जब लडकी ससुराल से अपने मायके वापस आती है तो वह अपनी माता आदि से गले मिलकर रोती है। इस भावाभिव्यञ्जन का अभिप्राय यह है कि दोनो को इतने अधिक समय के बाद मिलने पर असीम प्रसन्नता है। ऐसा भी होता है कि लडकी को अनिच्छापूर्वक पति को छोडकर मायके आना पडा हो या माँ को मन-ही-मन यह दु ख रहा हो कि लडकी को जाते समय विदाई देनी पडेगी। पर ऐसी दशा मे भी उनको रोने का अभिनय तो करना ही पडता है।

साधारण रूप से ऐसा माना जाता है कि मनुष्य की वर्तमान चित्त-वृत्ति उसके स्वभाव की द्योतक है। उस स्वभाव की परिभाषा के अनु-सार मनुष्य की भावनाओ के उद्रेक पर उसका स्वभाव आश्रित है। इसी-लिए साधारण रूप से कुछ सिखो के व्यवहारो को देखकर मनुष्य यह कहते हैं कि सिख एक बहादुर और लडाकू जाति है। कुछ लोग बगा-लियो के बारे मे यह कहते हैं कि वे अधिक भावुक होते हैं। इस प्रकार मनुष्यो के स्वभाव की व्याख्या प्रजातीय अथवा विभिन्न पारिवारिक समूहो द्वारा की जाती है। कुछ बच्चे जन्म के समय घबराने वाले या शान्त स्वभाव के होते हैं, पर यह कहना कठिन है कि इनमे से कौन-सी विशेषता वशानुसक्रमण द्वारा प्राप्त होती है। बहुत कुछ माता के गर्भ की दशा पर या शिशु के जन्म के समय की कष्टप्रद दशाओ पर आश्रित है। पर यह स्पष्ट नही है कि कोई जनन-सम्बन्धी कारक भी महत्वपूर्ण है या नही। ऐसा माना जाता है कि शरीर की कुछ ग्रथियो का स्वभाव पर आशिक प्रभाव पडता है। यद्यपि मनुष्य की ग्रन्थियो मे विभेद अवश्य होता है तथापि यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि उनके द्वारा वशानुसक्रमण किस प्रकार हमारे स्वभाव को नियन्त्रित करता है।

उपर्युक्त प्रमाण के प्रकाश मे हम वशानुसक्रमण के आधार पर यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति शक्तिशाली होगा या निर्बल होगा और चुस्त

होगा या सुस्त होगा। पर हमारे व्यक्तित्व के सब अंगो पर इसका प्रभाव पडेगा या नही कहा नही जा सकता। एक व्यक्ति स्वार्थी होगा या परोपकारी, उदारचेता होगा या ईर्ष्यालु, और कृतज्ञ होगा या कृतघ्न, बताना कठिन है।

बुद्धि

मनुष्य की बुद्धि पर किस चीज़ का प्रभाव अधिक पडता है? क्या यह हमारे पूर्व पुरुषो से वशानुसक्रमण द्वारा प्राप्त होती है? या हमारे लालन-पालन की प्रणाली द्वारा निश्चित होती है। दूसरे शब्दो मे बुद्धि पर वशानुसक्रमण का प्रभाव पडता है या वातावरण का। इन गम्भीर प्रश्नो पर विचार करने के लिए अनेक वैज्ञानिक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनो को हम अनेक भागो मे विभक्त कर सकते है—प्रजातीय पैतृक व्यवसाय या उद्योग-धन्धे का प्रभाव और जुडवाँ बच्चो के नियंत्रित प्रयोग।

प्रजातीय

यर्क्स (yerks) ने प्रथम महायुद्ध के समय अमेरिका के नीग्रो और गौरागी 'रगरूटो' की बुद्धि-परीक्षा की। उसके अनुसार नीग्रो और गौरागी सैनिको की आयु (Mental Age) क्रमश. १० ४ वर्ष और १३ १ वर्ष पाई गई। इसके बाद क्लिनबर्ग आदि अन्य मनोवैज्ञानिको ने नीग्रो और गौरागी पुरुषो की परीक्षा की है और इसी प्रकार के निष्कर्ष को निकाला है। इन बुद्धि-परीक्षाओ के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि अमरीकी गौराग व्यक्तियो की प्रजाति (Race) नीग्रो प्रजाति (Race) से अधिक बुद्धिमान है और इसलिए इस प्रजाति (Race) के जितने भी व्यक्ति है उनमे वशानुसक्रमण (Heredity) द्वारा बुद्धिमत्ता बनी रहती है और वशानुसक्रमण (Heredity) के कारण ही नीग्रो अपेक्षाकृत अधिक मूर्ख होते हैं।

इन परीक्षणो के विरोध मे कुछ ऐसे भी बुद्धि-परीक्षण हैं जो कि उपर्युक्त निष्कर्ष का खण्डन करते हैं। क्लार्क (Clark) ने न्यूयार्क

और लौस एन्जिल्स मे किए गए अध्ययनो के बारे मे यह लिखा है कि गौराग और नीग्रो व्यक्तियो की बुद्धि मे कोई भी अन्तर नही है। इसके अतिरिक्त न्यूयार्क नगर के प्रतिभाशाली बच्चो का अध्ययन भी एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। जब न्यूयार्क नगर के शिक्षा-अधिकारियो ने प्रतिभाशाली बच्चो के लिए एक विशेष स्कूल की व्यवस्था करना निश्चित किया, तो प्रारम्भिक स्कूलो मे से बुद्धि-परीक्षण द्वारा ५०० प्रतिभाशाली बच्चे चुने गए। जब इन बच्चो की प्रजाति, धर्म और राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि का पता लगाया गया तो यह ज्ञात हुआ कि प्रजातीयता के आधार पर इन बच्चो का वितरण उसी अनुपात मे था जिसमे कि न्यूयार्क नगर के निवासियो का था। दूसरे शब्दो मे इन ५०० बच्चो मे १० प्रतिशत नीग्रो बच्चे थे। यह अनुपात न्यूयार्क नगर की जनसख्या का था। इसी प्रकार अन्य प्रजातीय वर्गों का भी अनुपात था। एक दूसरी मज़ेदार बात यह थी कि उसी अवस्था के अन्य अप्रतिभाशाली बच्चो की अपेक्षा इन बच्चो का वज़न भारी था और कद ऊँचा था। जहाँ तक विशिष्ट बुद्धिमान् व्यक्तियो का सम्बन्ध है प्रत्येक प्रजाति मे हमे ऐसे व्यक्ति मिल सकते हैं। आज तक जितने भी परीक्षण हुए है उनमे एक ९ वर्ष की नीग्रो लडकी का बुद्धिफल (Intellegence quatient) २०० था, जो कि किसी भी साधारण बच्चे के बुद्धिफल से दुगना था।

इन महत्वपूर्ण और विरोधी प्रमाणो के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण तर्क भी हैं। क्या कुछ गौराग और नीग्रो सैनिको की बुद्धि-परीक्षा के आधार पर हम दोनो प्रजातीयो की बुद्धि के साधारण स्तर पर प्रकाश डाल सकते हैं ? क्या ये बुद्धि-परीक्षाएँ नीग्रो और गौराग व्यक्तियो के वातावरण के प्रभाव को अलग करके केवल वशानुसक्रमण के प्रभाव का अध्ययन करती हैं ? इन महत्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक ही है।

यद्यपि बुद्धि-परीक्षण भी अवैज्ञानिक हैं तथापि उनकी अवैज्ञानिकता

पर प्रकाश डालने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम पैतृक प्रभावो पर भी विचार कर लें।

पैतृक

कुछ वैज्ञानिको ने वशानुसक्रमण का प्रभाव दिखलाने के लिए प्रतिभाशाली व्यक्तियो के माता-पिता की बुद्धि और व्यवसाय का अध्ययन किया है। उनके अनुसार प्रतिभाशाली व्यक्ति राजघरानो, व्यापारियो के परिवारो मे ही पाए जाते हैं। यह अध्ययन विशेष-रूप से अमेरिका के प्रमुख व्यापारियो की सामाजिक उत्पत्ति पर आश्रित है। उच्च कोटि के व्यापारियो मे से २६ प्रतिशत वडे व्यापारियो के बच्चे थे और ५६ ७ प्रतिशत बच्चे किसी-न-किसी प्रकार के व्यापारी के बच्चे थे जबकि केवल १२ ४ प्रतिशत किसानो के बच्चे व्यापारी बन सके। ५ प्रतिशत क्लर्को और ८ प्रतिशत कुशल श्रमिको (Skilled Labour) व २२ प्रतिशत कौशलहीन श्रमिको (Unskilled Labour के बच्चे व्यापारी बन सके। इन तथ्यो के आधार पर टॉसिग और जास्लिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न व्यावसायिक वर्गों की आय की असमानता का कारण उनकी आन्तरिक या पैतृक विशेषताओ की असमानता है न कि अवसरो की असमानता।

यह तो हुआ स्वस्थ वशानुसक्रमण का प्रभाव। अब हम वशानु-सक्रमण के अस्वस्थ और स्वस्थ दोनो प्रकार के प्रभावो पर तुलनात्मक विचार करें। एक ओर कालीकाक (Kallikak) और ज्यूक्स (Jukes) के परिवारो का अध्ययन है और दूसरी ओर एडम्स (Adams), एडवर्ड्स (Edwards) और साल्टन स्टॉल (Salton Stall) के परिवार का अध्ययन है। मार्टिन कालीकाक ने एक अत्यन्त मन्दबुद्धि की लडकी से विवाह किया। उसके एक लड़का पैदा हुआ, वह भी मन्दबुद्धि था। इस लडके के ४८० वशजो का पता लगाया गया जिसमे ३० प्रतिशत क्षीण-बुद्धि के थे। कुछ दिनो बाद मार्टिन ने एक दूसरा विवाह किया। इस विवाह से जो सन्तानें हुई उनमे नीच

श्रौर श्रधम व्यक्तियो का श्रभाव था। वास्तव मे इस परिवार मे सव सज्जन श्रौर प्रतिष्ठित नागरिक थे। जहाँ पर भी वे वसे उन्होने यश श्रौर सम्मान प्राप्त किया।

ज्यूक्स (Jukes) नाम का एक व्यक्ति सन् १७२० ई० मे न्यूयार्क मे पैदा हुश्रा था। सन् १८७७ ई० मे इस व्यक्ति के १२०० वशजो का श्रध्ययन किया गया। जिनमे ४४० रुग्ण या विकलाग थे, ३३० श्रपराधी थे श्रौर उनमे से जितनी भी स्त्रियाँ थी वे प्राय वेश्याएँ थी।

निर्धनता, नीचता श्रौर सामाजिक श्रधमता के इन दो प्रमुख श्रध्ययनो के विरोध मे केवल एडवर्ड्स के वशजो का सुन्दर चित्र ही उपस्थित कर देना पर्याप्त है। सन् १९०० ई० मे एडवर्ड्स के १३९४ वशज पाए गए। उनमे से २९५ ग्रेजुएट थे तथा श्रन्य व्यक्ति प्रतिष्ठित पदो पर श्रासीन थे, पर कोई भी ऐसा व्यक्ति नही मिला जो कि श्रधम या नीच हो।

इन श्रध्ययनो के श्राधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य की प्रतिभा का उदय वशानुसक्रमण द्वारा निश्चित होता है। यदि किसी वश मे प्रतिभाशाली व्यक्ति थे तो उनके वशज श्रवश्य प्रतिभाशाली होगे। यदि किसी वश मे पागल व मन्द-बुद्धि व्यक्ति होगे तो उनके वशज भी वैसे ही होगे।

समालोचना

इन श्रध्ययनो की कटु समालोचना हुई है क्योकि इन श्रध्ययनो के निष्कर्ष का श्राधार श्रवैज्ञानिक है।

(१) यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि एडवर्ड्स, ज्यूक्स, कालीकाक श्रादि व्यक्तियो के वशजो का श्रध्ययन पूर्ण है। जहाँ तक सम्भव हुश्रा है वंशजो का पता लगाने का प्रयत्न किया गया है, पर यह भी सम्भव है कि कुछ श्रप्रसिद्ध वशजो का परिज्ञान न होने पाया है।

(२) इन व्यक्तियो के जिन वशजो का श्रध्ययन किया गया है यदि

उन व्यक्तियो को हम ज्ञात और अज्ञात दोनो प्रकार के वशजो का प्रतिनिधि मान लें तो भी हमारी समस्या नही सुलझ सकती। इसका कारण यह है कि इन व्यक्तियो और इनके वशजो मे करीब ८ या १० पीढी का अन्तर है। क्या यह कहा जा सकता है कि अध्ययन किए गए वशजो पर केवल ज्यूक्स, एडवर्ड्स या कालीकाक का ही प्रभाव है? वास्तव मे पीढी मे नवीन वशानुसक्रमण का प्रभाव हुआ है।

(३) हमको यह ध्यान रखना चाहिए कि ज्यूक्स और एडवर्ड्स के वशजो मे कोई भी दो व्यक्ति एक-दूसरे के अनुरूप न थे। इससे यह सिद्ध होता है कि एक वश के सदस्य होते हुए भी उनमे अन्तर था। इसलिए इन अन्तरो का कारण वशानुसक्रमण (Heredity) के अतिरिक्त अन्य ही कोई कारक हो सकता है।

(४) प्रत्येक व्यक्ति की उत्पत्ति मे माता-पिता के केवल आधे-आधे ही पित्र्यैक आने पाते हैं। माता-पिता के पित्र्यैक का कैसा सम्मिलन होगा यह नही कहा जा सकता। फलत अनेक उत्तम गुण माता-पिता मे मिल सकते हैं और उनके बच्चो मे इनका अभाव हो सकता है, एक पुरखे की प्रतिभा के स्थान पर उसके वशज मे अयोग्यता, मूर्खता और पागलपन हो सकता है।

(५) वशानुसक्रमण के समर्थक जब इन परिवारो के वशजो का अध्ययन करते हैं तो वे इस बात को भूल जाते है कि वातावरण का भी प्रभाव इन वशजो पर हो सकता है। क्या यह सत्य नही है कि एक निर्धन और बुद्धिहीन व्यक्ति अपने बच्चो का लालन-पालन उचित ढग से नही कर सकता? क्या यह सत्य नही है कि एक धनिक व्यक्ति को वे सारी सुविधाएँ प्राप्त हैं जिनसे कि वह अपने बच्चो को उचित शिक्षा दिला सकता है? क्या यह सत्य नही है कि इस दृष्टिकोण से इन दो प्रकार के परिवारो के वातावरणो मे विभिन्नता थी?

वातावरण

मनुष्य की वुद्धि पर वातावरण का क्या प्रभाव पडता है, इसका अध्ययन करने के लिए नियन्त्रित प्रयोगो की शरण ली गई। ऐसे प्रयोगो मे यह आवश्यक था कि वशानुसक्रमण स्थिर रहे और वातावरण के प्रभाव को विभिन्न प्रकार से ज्ञात किया जाए। अतएव जुडवाँ बच्चो (Twins) का अध्ययन अत्यन्त लाभकारी था। गाल्टन (Galton) ने इस प्रकार के अध्ययनो का पिछली शताब्दी मे श्रीगणेश किया था। जुडवाँ बच्चे दो प्रकार के होते है। एक तो वे जो कि माता के एक उत्पादक कोष्ठ के विभाजन से बनते है। और दूसरे वे जो माता के दो उत्पादक कोष्ठो से बनते है। जो जुडवाँ बच्चे माता के एक ही निषिक्त (Fertilized) अडकोष से बनते है, उनमे सामान्य पित्र्यैक (Genes) होते है। फलतः वशानुसक्रमण (Heredity) के कारक सामान्य होते हैं। यदि ऐसे जुडवाँ बच्चों को विभिन्न वातावरणो मे रखा जाए तो वातावरण का प्रभाव निश्चित रूप से ज्ञात हो सकता है। इसी आशय को लेकर जुडवाँ बच्चो का अध्ययन हुआ है।

एक ही वातावरण मे पले जुडवाँ बच्चो का अध्ययन अत्यन्त रुचिकर है। डाओन नाम की एक स्त्री की पाँच बहिने थी जो कि माता के एक ही निषिक्त अडकोष के विभाजन से बनी थी। अतएव इनका वशानुसक्रमण (Heredity) सामान्य था तथा वे एक ही परिवार मे पाली गईं। इसलिए साधारण रूप से यह भी सामान्यत स्वीकार कर लिया जाता है कि इनका वातावरण भी सामान्य था। जब ये बहिनें तीन वर्ष की हुईं तो मनोवैज्ञानिको ने इनकी सामाजिक सफलता (Social Success), सामाजिक जनप्रियता (Social Popularity) एव सामाजिक रुचि (Social Interest) इन तीनो गुणो की परीक्षा की। इस परीक्षा का परिणाम निम्नलिखित है —

क्रम सख्या	वहिनो के नाम	सामाजिक सफलता	सामाजिक जनप्रियता	सामाजिक रुचि
(१)	एनेट	१ ३	० ८	२ ७
(२)	सेसिल	१·३	१ २	१ ८
(३)	एमिली	० ६	१ ०	० ६
(४)	मेरी	० ६	० ७	० ४
(५)	थूनी	१ ८	१ ६	१ ०

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वातावरण और वशानुसक्रमण दोनो के सामान्य रहते हुए भी इन वहिनो मे मानसिक अन्तर वना रहा। इन वहिनो का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ का कहना है कि एमिली को क्रोव विल्कुल नही आता था, जवकि मेरी क्रोध की पुतली थी। एमिली को उन वातो से भय न लगता था, जिससे दूसरी वहिनें भयभीत होती थी। मेरी मे भोलापन था। थूनी का व्यवहार वडप्पन लिए हुए था।

वास्तव मे इस अध्ययन ने वशानुसक्रमण तथा वातावरण की समस्या को और जटिल वना दिया क्योकि इस अध्ययन मे दोनो प्रभाव साधारण रूप से समान ही हैं। पर इसके वावजूद भी इनकी वुद्धि मे अन्तर है।

अन्य जुडवाँ वच्चो का अध्ययन

तीन विभिन्न विज्ञानो के पण्डितो ने मिलकर १९ जुडवाँ वच्चो को विभिन्न वातावरण मे रखकर अध्ययन करने का प्रयत्न किया। इनमे से न्यूमैन जीव-वैज्ञानिक था, फ्रीमैन मनोवैज्ञानिक था और होल जिजर, साख्यक था। इन १९ जुडवाँ वच्चो मे से एक जोडे के वच्चो के नाम मेरी (Mary) और मेवुल थे। इनमे से एक को नगर मे रखा गया और दूसरे को गाँव मे। जव दोनो की वुद्धि-परीक्षा हुई तो नगर मे पलने वाला वच्चा गाँव मे पलने वाले वच्चे की अपेक्षा अधिक वुद्धिमान निकाला। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि वातावरण का प्रभाव

बुद्धि पर अधिक पडता है। इन तीनो विद्वानो ने अपने अध्ययन के निष्कर्ष को इन शब्दो मे व्यक्त किया है कि 'शारीरिक लक्षणो' पर वातावरण का सबसे कम प्रभाव पडता है । जीवन की सफलता और विभिन्न कलाओ का ज्ञान वातावरण पर अधिक निर्भर करता है और मनुष्य के व्यक्तित्व की विशेषताएँ वातावरण द्वारा अधिकतम प्रभावित होती है ।

इस अध्ययन ने वशानुसक्रमण (Heredity) के अनुयायियो के विरोध मे अत्यन्त सफल तथ्यो को उपस्थित किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि पर्यावरण और वशानुसक्रमण के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या जटिल है ।

एक वातावरण के माता-पिता के विभिन्न बच्चों का अध्ययन

यद्यपि हम यह जानते है। कि किन्ही भी दो व्यक्तियो का वातावरण समान नही होता तथापि हम अनाथालयो और शिशु-बालक सस्थाओ के वातावरण के समान प्रभाव का अध्ययन कर सकते हैं। कुमारी वर्क्स ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि मनुष्य की बुद्धि के विकास मे वशानुसक्रमण का ८०% और वातावरण का २०% प्रभाव रहता है । उनका कहना है कि अच्छे परिवार का वातावरण बच्चे के बुद्धिफल को २० अश तक बढा सकता है। इस अध्ययन के अतिरिक्त दूसरा अध्ययन १५० अज्ञात माता-पिता के बच्चो का था। इनको ६ मास की आयु से एक मकान मे रखा गया। रक्त के द्वारा जिन १६ बच्चो के वारे मे यह ज्ञात हुआ कि इनकी माताएँ हीन-बुद्धि की होगी, उनका प्रारम्भ मे बुद्धिफल ७५ था, पर दो वर्ष के बाद यह ११६ हो गया और ढाई वर्ष बाद फिर १०८ रह गया ।

इन अध्ययनो के द्वारा कुछ विशेषज्ञ वशानुसक्रमण का प्रभाव हमारी बुद्धि पर अधिक बताते हैं और कुछ वातावरण का। वातावरण या वशानुसक्रमण के पारस्परिक सम्बन्ध मे कुछ कहने के पूर्व वह आवश्यक

है कि हम यह जान लें कि मनुष्य की बुद्धि को मापने वाली बुद्धि-परीक्षाएँ वैज्ञानिक हैं या वैधानिक ।

बुद्धि-परीक्षा इतनी अधिक अव्यवस्थित एव अनिश्चित है कि एक ही व्यक्ति के बुद्धिफल मे १० दिन मे ही अन्तर आ जाता है । इसके अतिरिक्त ये बुद्धि-परीक्षाएँ हमारी जन्मजात शक्तियो की परीक्षा नही कर पाती । यह केवल उस ज्ञान पर आधारित है जो कि हमे समाज से मिलता है । ये परीक्षाएँ भाषा, गणित आदि विषयो पर आधारित होती हैं जिन्हे हम समाज द्वारा प्राप्त करते हैं । ये बुद्धि-परीक्षाएँ वशानु-सक्रमण और वातावरण के प्रभावो को एक-दूसरे से अलग नही कर सकती । इसलिए ये अधिक-से-अधिक ज्ञान की प्राप्ति की परीक्षा ले सकती हैं, न कि जन्मजात बुद्धि की ।

लिंग-भेद का प्रभाव

साधारण रूप से यह विश्वास माना जाता है कि स्त्रियाँ स्वभावत सहृदया होती हैं और भावुक होती हैं और पुरुष स्वभावत कठोर और बुद्धिमान होते हैं । इन दोनो के स्वभाव मे भेद लिंग के आधार पर होता है । स्त्रियो की मातृत्व-शक्ति उन्हे कोमल, दयालु और बुद्धिहीन बना देती है जबकि पुरुषो की विशेषताएँ इससे बिलकुल विपरीत बन जाती हैं । स्त्रियाँ इसीलिए गान-विद्या, नृत्य-कला और साहित्य मे अधिक प्रवीण होती हैं, जबकि पुरुष गणित और विज्ञान मे अधिक कुशल होते हैं ।

इस सामान्य विश्वास के विरोध मे अनेक वैज्ञानिक अन्वेषण हुए हैं । डरविन ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि लडके और लडकियो मे शैशवावस्था मे कोई भी व्यक्तित्व-सम्बन्धी अन्तर नही होता । इसके अतिरिक्त मारगेरेट मीड ने न्यूगाइना की अरापेश, मुडगुमार और शाम्बुली—इन तीन वन्य-जातियो मे लिंग और स्वभाव के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया है और उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि अरापेश-वन्य-जाति मे स्त्री और पुरुष दोनों का व्यक्तित्व समान है ।

दोनो सहयोगी, शान्त और दूसरो की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते है। मुण्डगुमार वन्य-जाति मे स्त्री और पुरुप दोनो निर्दयी और आक्रमणकारी है और शाम्बुली वन्य-जाति मे दोनो के स्वभाव और व्यक्तित्व मे अन्तर है, पर हमारी सस्कृति से एकदम भिन्न हैं। इस वन्य जाति मे स्त्रियाँ शासक हैं और प्रवन्धक भी। पुरुप भावुक है, स्त्रियो पर निर्भर है और अनुत्तरदायी है। इसी प्रकार उत्तर-प्रदेश की थारु वन्य-जाति का अध्ययन डा० मजुमदार ने किया है। उनके अध्ययन के अनुसार थारुओ मे स्त्रियाँ शासन करती है। परिवार पर और समाज पर भी पुरुषो के व्यवहार का आदर्श, स्त्रियो का आज्ञापालन और पत्नीव्रत धर्म का निर्वाह है।

यदि हम भारतीय इतिहास से या साधारण दैनिक जीवन से ही कुछ उदाहरणो को ले तो यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। यद्यपि भारतीय सस्कृति के अनुसार पुरुषो को शक्तिशाली, व्यवहार-पटु, शासन-कुशल, और सफल प्रबन्धक होना चाहिए और स्त्रियो को बच्चो का पालन, पति की सेवा, सास-ससुर की आज्ञा का पालन आदि गृहिणी के गुणो को विकसित करना चाहिए, तथापि भारतीय इतिहास मे इस प्रकार की स्त्रियाँ हुई हैं जिन्होने राजनीति क्या और शासन क्या युद्ध मे भी पुरुषो से लोहा लिया है और उनके दाँत खट्टे कर दिए है। कैकेयी से लेकर अहमदनगर की चाँद-बीवी, गोलकुण्डा की रानी दुर्गावती और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तक अनेक इस प्रकार की ललनाओ की वीरता भारतीय-इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे अकित है। इसका कारण यह है कि उनको बचपन से इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। यदि उनको भी तलवार और कटार के बजाए गुड्डियो और गुड्डो से बचपन मे खिलाया जाता तो शायद आज उन्हे कोई भी न जानता। इसी प्रकार यदि किसी लडके को लडकियो की भाँति पाला जाता है, तो उसका व्यवहार और आचरण लडकियो का-सा ही हो जाता है। इसीलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव-प्रकृति अविश्वसनीय रूप से नमनीय है, और विभिन्न

सास्कृतिक परिस्थितियो के अनुसार सरलतापूर्वक बदल जाती है। एक सस्कृति के व्यक्तियो के व्यक्तित्व और व्यवहार की विभिन्नता की भाँति अनेक सस्कृतियो के असमान व्यवहारो की व्याख्या हम लालन-पालन के द्वारा ही कर सकते है। वास्तव मे दोनो लिगो के व्यक्तियो का आदर्श सस्कृति द्वारा निश्चित होता है, जिसके अनुसार प्रत्येक पीढी के स्त्री-पुरुषो को व्यवहार करना पडता है।

उपर्युक्त अध्ययनो मे कुछ अध्ययन वशानुसक्रमण पर वल देते है और कुछ अध्ययन-वातावरण पर बल देते हैं। इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध को बर्क्स ने तो गणित द्वारा नापने का प्रयत्न किया है। वास्तव मे दोनो मे से कौन अधिक महत्वपूर्ण है इसका पता लगाना व्यर्थ की विडम्बना है। दोनो हमारे जीवन से इतने अधिक घुले-मिले है कि हम यह नही कह सकते कि वशानुसक्रमण (Heredity) का प्रभाव अधिक पडता है या वातावरण का। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लम्ले (Lunily) इसीलिए सही कहता है कि यह प्रभाव न वशानुसक्रमण का है और न वातावरण का, बल्कि वशानुसक्रमण और वातावरण दोनो का।

एक शिशु का जन्म इस ससार मे उन शारीरिक विशेषताओ के साथ होता है कि जो उसे माता-पिता से मिलती हैं। इस प्रारम्भिक शरीर से एक नवजात व्यक्ति भोजन द्वारा विकसित होता है। जो कुछ भी वह भोजन करता है उसे वह अपने शरीर मे आत्मसात् कर लेता है और इस प्रकार भोजन ही केवल मनुष्य को बनाता है। वही भोजन सब वच्चो और मनुष्यो को मिलता है। इसमे थोडा-बहुत अन्तर भी हो सकता है, पर विभिन्न व्यक्तियो की शारीरिक एव बौद्धिक विशेषताओ मे जमीन-आसमान का अन्तर हो जाता है। इसका क्या कारण है। यह अन्तर उन निर्देशको पर आश्रित है जिन्हे हम पित्र्यैक (Gene) कहते हैं। ये पित्र्यैक निश्चित करते हैं कि हमारा शरीर अपने भोजन का क्या उपयोग करेगा। मान लीजिए कि दो भाई-वहिन हैं। भाई का रग साँवला है और वहिन का गोरा है। भाई के बाल घुँघराले हैं; वहिन

के सीधे व मुलायम बाल हैं । यह भाई-बहिनो का अन्तर इसलिए है कि इनमे कुछ पित्र्यैक भिन्न है । पर यह भी हो सकता है कि कुछ दशाओ मे भाई-बहिनो के रग मे यह अन्तर हो, पर दूसरे वातावरण मे यह अन्तर न रह पाए । मान लीजिए कि बहिन प्रतिदिन कडी धूप मे कार्य करती है क्योकि उसका भाई बीमारी के कारण अस्पताल मे है, जहाँ धूप नही आती। ऐसी दशा मे बहिन का रग काला पड जाएगा और भाई का रग पीला पड जाएगा । यह अन्तर पित्र्यैक और सूर्य दोनो पर निर्भर करता है । हमारे शरीर के आन्तरिक निर्देशक पूर्णरूप से अन्तरो को निश्चित नही करते, पर वे यह निश्चित करते हैं कि वातावरण की किसी वस्तु के कारण हमारे शरीर की क्या प्रतिक्रिया होगी ।

इसी सिद्धान्त के आधार पर 'मिचुरिन' (Michurin) ने प्राचीन वशानुसक्रमण के सिद्धान्त का खण्डन किया है । शरीर और वातावरण का सम्बन्ध आत्मसात् की प्रक्रिया द्वारा होता है । इस प्रक्रिया द्वारा शरीर वातावरण के भागो को चुनता है और उन्हे अपने शरीर का भाग बना लेता है । इसके फलस्वरूप जो विकास होता है वह इस बात पर निर्भर करता है कि एक व्यक्ति ने अपने माता-पिता से कितने और किस प्रकार के गुण प्राप्त किए और इस बात पर निर्भर करता है कि वातावरण से उसने क्या आत्मासात् किया है । मिचुरिन ने अपने अन्वेषण का निष्कर्ष इन शब्दो मे व्यक्त किया है—"मेरे अध्ययनो ने यह विश्वास दिलाया है कि वशानुसक्रमण प्राचीन वातावरण का कुल योग है । मिचुरिन के इस निष्कर्ष का कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का शरीर अपने वातावरण के अनुसार अपना अनुकूल कार्य करता है । इस प्रकार प्रत्येक शरीर मे वातावरण समा जाता है । यह वातावरण पित्र्यैको द्वारा अगली पीढी की सन्तानो को मिल जाता है ।

वशानुसक्रमण और वातावरण का सम्बन्ध उसी प्रकार है, जैसा कि सिनेमा की फिल्म और उसके चित्र मे होता है । फिल्म बिलकुल शून्य होती है परन्तु यह वातावरण के प्रभाव को स्वीकार करने के लिए

सदैव तत्पर रहती है। वशानुसक्रमण अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के मस्तिष्को को पैदा करता है, जिनका दिमाग अच्छा माना जाता है वे वातावरण के प्रभाव को जल्दी ही स्वीकार कर लेते हैं। पर जिनका दिमाग निर्बल होता है वे कठिनता से सीख पाते है। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रमुख बात यह है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति को भी यदि एक पिछडे हुए समाज मे रखा जाए, जिसमे पत्थर के अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग होता हो तो निश्चय ही उसका ज्ञान बहुत पिछडा रह जाएगा। यदि उस व्यक्ति को आधुनिक मशीनयुग मे पाला जाए तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उसकी प्रतिभा निखर जाएगी। वास्तव मे वशानुसक्रमण हमे विकसित होने का सामर्थ्य देता है, पर इन सामर्थ्यों के विकसित होने के अवसर भी वातावरण से ही मिल सकते हैं। वशानुसक्रमण हमे हमारी सक्रिय पूंजी देता है, वातावरण हमे इसके विनियोजन का अवसर देता है।

वातावरण और वशानुसक्रमण के घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण और आवश्यक है। हम साधारण रूप से यह कहते हैं कि गेहूँ के बीज से केवल गेहूँ का पौधा विकसित हो सकता है और सरसो के बीज से सरसो का ही पौधा विकसित हो सकता है पर एक किसान जब गेहूँ बोने का निश्चय करता है तो उसके दिमाग मे यह खयाल रहता है कि गेहूँ के बीज की क्या आवश्यकताएँ है और मैं उन आवश्यकताओ को पूरा कर सकता हूँ या नही। वह ज़मीन की विशेषताओ को जानता है, खेत की जलवायु को तौलता है और अपने साधनो को आँकता है। इन सब कार्यों के लिए सर्वप्रथम आवश्यक गेहूँ के बीज के वंशानुसक्रमण का ज्ञान है और वातावरण के प्रभाव का आगणन (Estimate) है। इसलिए यह स्पष्ट है कि गेहूँ के बीज का पौधे के रूप मे विकास वशानुसक्रमण और वातावरण दोनो पर आधारित है। अतएव लाइसेन्को (Lysenko) ने वशानुसक्रमण की परिभाषा को ही बदल दिया है। वह कहता है, "वशानुसक्रमण

शरीर की वह विशेपता है जो कि अपने जीवन के लिए, अपने विकास के लिए और विभिन्न दशाओ मे निश्चित रूप से प्रतिक्रिया के लिए निश्चित दशाओ (वातावरण) को चाहती हैं।

वातावरण

जन्म के वाद वच्चा आन्तरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार के वातावरण मे प्रभावित होता है। माता-पिता, भाई वहिन, परिवार-पाठशाला, समुदाय-समाज, पेड-पौधे, नदी, पर्वत, सूर्य आदि वाह्य वातावरण का निर्माण करते हैं। यह वातावरण दो प्रकार का होता है—सामाजिक और भौतिक, परिवार तथा सदस्य, टोला-महल्ला, सामाजिक सस्थाएँ आदि सामाजिक कहलाती हैं और सूर्य, पर्वत, नदी आदि भौतिक वातावरण के अन्तर्गत आते हैं। वातावरण के प्रभाव के परिणामस्वरूप बालक का निर्माण किस प्रकार होता है—यहाँ हम आज के युग के महान् व्यक्ति और भारत के प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल का दृष्टान्त देना उपयुक्त समझते है।

प० मोतीलाल नेहरू भारत के प्रसिद्ध वकील और देशभक्त के रूप मे गिने जाते थे। प० जवाहरलाल उन्ही के वड़े पुत्र थे। इनसे छोटी दो वहिनें थी। परिवार में नौकर-चाकरो के अतिरिक्त अन्य सगे-सम्बन्धियो का आना-जाना लगा रहता था। जिन दिनो बालक जवाहरलाल का समय खेल-कूद और इधर-उधर के कामो मे व्यतीत हो रहा था, उन्ही दिनो प० मोतीलाल नेहरू की मित्रता भारत के बडे-बडे अग्रेज आफिसरो और गवर्नरो आदि से थी। उनके यहाँ हमेशा इन लोगों का जमघट लगा रहता था। विद्वान् वकील और रईसो से उनका दरबार भरा रहता था। इन लोगो के बीच वेखटके और बिना किसी सकोच के बालक जवाहरलाल का आना-जाना, उनसे मिलना और बात-चीत करना लगा रहता था। प० मोतीलाल नेहरू चाहते थे कि उनका वेटा निडर और हर विषय का जानने वाला वने। निडर वह इसलिए वनाना चाहते थे कि दुनिया का सबसे वडा दुश्मन भय है।

एक बार बालक जवाहरलाल अपने अन्य मित्रो के साथ यमुना नदी के पास घूम रहे थे। उनके आगे-आगे कुछ अग्रेज लडके हिन्दुस्तानियो को छेडते और शरारत करते हुए जा रहे थे। अग्रेजो के लडके हिन्दुस्तानी लडको के पैरो मे पीछे से जोर से ठोकर मारते और हँसकर कहते 'आइ एम सॉरी', बालक जवाहरलाल को अग्रेज बालको की यह शरारत खटक रही थी और उनका हृदय अग्रेजो के लडको से बदला लेने के लिए तडप रहा था। धीरे-धीरे बालक जवाहरलाल उनके पास आए और जिस प्रकार अग्रेज लडके हिन्दुस्तानियो के पैरो मे पीछे से ठोकर मारते थे ठीक उसी प्रकार बालक जवाहरलाल ने एक जोर की ठोकर उस अग्रेज लडके के पैर मे जमाई और मुसकराकर ठीक उसी प्रकार के लहजे मे कहा—'आई एम सॉरी।' अँग्रेज लडके तिलमिला कर रह गए। बालक जवाहरलाल, अपने साथियो के साथ घूमते हुए अपने घर आ गए। जवाहरलाल का यह साहसिक कार्य उनके घरेलू वातावरण, विशेषकर माँ-बाप के रहन-सहन के तरीको के कारण आया, अन्यथा वह समय ऐसा था कि अग्रेजो की तूती बोलती थी, उनके लिए न तो कोई कानून था और न उनके लिए किसी प्रकार के न्याय-अन्याय के कार्यो का लेखा-जोखा रहा करता था। वातावरण के प्रभाव ने बालक जवाहरलाल को न केवल निडर बनाया बल्कि अन्याय के प्रति सजग रहने और उससे अपनी तथा अन्य की रक्षा करने की भी भावना का उनमे उदय हुआ। इसी प्रकार जब बालक जवाहरलाल पढने के लिए लन्दन गए तो शीघ्र ही अपनी निडरता और बुद्धिचातुर्य के कारण अपने कालेज मे प्रसिद्ध हो गए। विद्यार्थी-जीवन मे ही सघटन की प्रवृत्ति जागृत होने लगी और लन्दन मे उन दिनो जितने भी भारतीय युवक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उनका एक सघटन बनाया और प्रत्येक रविवार को आपस मे मिलने, विचार-विमर्श करने तथा अन्य बातो पर बातचीत करने की परम्परा बनाई।

प० मोतीलाल नेहरू उन दिनो इलाहाबाद की अनेक सार्वजनिक

सस्थाओ का सचालन करते थे और उनकी मीटिंगे बराबर अपने घर पर होते हुए बालक जवाहरलाल देखा करते थे । अस्तु, जहाँ उन्हे अवसर मिला अपनी उस सीखी हुई और देखी हुई आदत का प्रयोग उसी रूप मे करना शुरू कर दिया । यह वातावरण का असर था जो बालक जवाहर-लाल को हर क्षेत्र मे विकास करने और आगे बढने का अवसर दिया । प० मोतीलाल नेहरू ने अपने साथ बालक जवाहरलाल को पूरे योरुप का भ्रमण कराया और ऐसे वातावरण की छाप उन पर डाली कि वह आज एक आदर्श पुरुष के रूप मे माने जाते हैं और दुनिया उनके हरएक कार्य को बडी गम्भीरता और उत्सुकता से देखती है ।

अन्त मे हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि जीवन के विकास के लिए वशानुसक्रमण और वातावरण दोनो की आवश्यकता है, पर यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वातावरण या वशानुसक्रमण की कितनी-कितनी देन है । वशानुसक्रमण हमे केवल कुछ-कुछ शक्तियाँ प्रदान करता है, मगर इनमे से कौनसी शक्ति विकसित हो जाएगी और किस रूप मे विकसित हो जायेगी, यह वातावरण पर निर्भर है । वशानु-सक्रमण हमे भोजन की आवश्यकताएँ प्रदान करता है, पर यह निश्चित नही करता कि हम शाकाहारी बनें या मासाहारी । वशानुसक्रमण हमे यौन-सम्बन्धी आवश्यकताएँ प्रदान करता है, पर ये आवश्यकताएँ किस प्रकार पूरी होगी यह सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है ।

शारीरिक विकास

शारीरिक-विज्ञान के अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर प्रौढावस्था तक के विकास को इतना महत्व दिया जाता है कि इस विषय पर शरीर-विज्ञान-वेत्ताओ ने अनेक पुस्तको का निर्माण कर डाला है। वस्तुत शारीरिक विकास एक ऐसा विषय है जो बाल-विकास के क्षेत्र मे प्रत्यक्षतः नही आता, परन्तु मानसिक और शारीरिक विकास-सम्बन्धी केवल उन्ही बातो पर सक्षेप मे विचार किया जाएगा जिनका मानसिक विकास से सीधा सम्बन्ध होता है।

शारीरिक विकास का साधारण रूप वशानुक्रम द्वारा निर्धारित होता है और वातावरण द्वारा उसमे विभिन्न प्रकार का सुधार आना सम्भव होता है। शारीरिक विकास इतने स्वाभाविक रूप से चलता रहता है कि उस पर हम कदाचित् ही कभी विशेष ध्यान देते हैं। हम यह कभी नही सोच पाते कि हमारे जीवन-काल का लगभग तृतीयाश शारीरिक विकास मे चला जाता है। विगत तीस वर्षों मे शारीरिक विकास तथा उसके सिद्धान्तो के विषय मे बडे अन्वेषण किए गए हैं और उनसे बडी नई-नई बातें प्रकाश मे आई हैं। इन नई-नई बातो के समुचित ज्ञान के बिना माता-पिता और अध्यापक बालको के पथ-प्रदर्शन मे पूर्णरूपेण सफल नही हो सकते। परन्तु इस अध्याय का तात्पर्य इन विषय-अन्वेषणों के फल से पाठको को आश्चर्यचकित नही करता है, वरन् बालक के मानसिक और व्यक्तित्व-विकास के सम्बन्ध मे शारीरिक विकास के महत्व पर थोडा प्रकाश डालना है।

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार का सम्बन्ध

शारीरिक और मानसिक विकास मे दो प्रकार के सम्बन्ध का उल्लेख किया जा सकता है। वे प्रकार ये हैं —

१—मानसिक विकास के कई अग शारीरिक विकास पर स्वभावत निर्भर करते है।

२—किमी शारीरिक अग के कुठित विकास से मानसिक विकाम केवल अवरोधित ही नही होता, वरन् उसके फलस्वरूप वालक मे कुछ 'अवांछित असामान्य व्यवहार' भी देखे जा सकते हैं।

इन दोनो प्रकार के तात्पर्य की ओर नीचे मकेत किया जा रहा है —

साधारण शारीरिक विकास

साधारणत लोगो की यह धारणा है कि शारीरिक और मानसिक विकास एक-दूसरे की विपरीत दिशा पर चलते हैं, अर्थात् यदि कोई व्यक्ति शरीर से हृष्ट-पुष्ट है तो वह प्राय. अति साधारण अथवा मन्द-बुद्धि का होता है और जो उत्कृष्ट बुद्धि का होता है उसका शारीरिक विकास अच्छा नही होता है। परन्तु इस धारणा के समर्थन मे कोई वैज्ञानिक प्रमाण नही मिलता। इसके विपरीत, बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि बचपन मे शारीरिक और मानसिक विकास मे सह-सम्बन्ध होता है, अर्थात् अच्छे शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास भी प्राय उतना ही अच्छा चलता है। प्रतिभाशाली व्यक्तियो सम्बन्धी अपने अध्ययन मे टरमैन ने यह देखा कि मन्द मानसिक विकास वाले बालको का शारीरिक विकास भी मन्द गति से चलता है।

बालक मे सवेगात्मकता के विकास का उसमे दाँत आने से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पडता है तभी तो ६ महीने से २।। वर्ष की उम्र के अन्तर्गत दाँतो के आने के साथ बालक विभिन्न प्रकार का सवेगात्मक व्यवहार दिखलाता है। पाठक ने यह देखा होगा कि दाँत आने के समय

वालक कुछ अस्वस्थ दिखलाई पडता है और वह वडा चिडचिडे स्वभाव का हो जाता है। तरुणावस्था मे भी व्यक्ति मे स्नायविक निर्वलता तथा सवेगात्मकता दिखाई पडती है। यह भी उस समय शरीर मे होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही होता है। कैम्बवेल ने तैतीस शिशुओ का अध्ययन कर यह दिखलाया है कि शरीर के तौल का वालक के वैठने, रेगने तथा चलने पर क्या प्रभाव पडता है। उन्होने देखा कि जिन शिशुओ का शारीरिक विकास द्रुत गति से होता था उनका व्यवहार-सम्वन्धी विकास भी द्रुत गति से चलता था। बालको का खेल-सम्बन्धी विकास सभी-अवस्था मे उनके शारीरिक और मानसिक विकास पर निर्भर करता है। शरीर के आकार तथा मासपेशियो की शक्ति आदि पर यह निर्भर करता है कि वालक अपनी उम्र के अन्य वालको के साथ कैसे खेलो मे भाग लेगा। वुद्धि का विकास मस्तिष्क के आकार तथा तौल पर वहुत हद तक निर्भर करता है।

वालक के शारीरिक विकास का उसके सामाजिक विकास से घनिष्ठ सम्वन्ध है। छोटे कद का अथवा शरीर से निर्वल होने के कारण वालक वडो के सामने लज्जा का अनुभव कर सकता है तथा अपनी उम्र के अन्य स्वस्थतर वालको के सामने उसके मन मे आत्महीनता की भावना आ सकती है। शरीर की स्थूलता का व्यक्तित्व पर पडे प्रभाव का ब्रूश ने इस प्रकार विश्लेषण किया है—"जब वालको को अपने माता-पिता अथवा अभिभावको से समुचित प्यार या सवेगात्मक सन्तोष नही मिलता तो वे अपनी चिन्ता तथा उत्तेजित प्रवृतियो की शान्ति के लिए अत्यधिक भोजन करने की आदत मे आ जाते हैं। यह देखा भी जाता है कि ऐसे लडके वहुधा भूख के नाम पर असमय पर खाने की माँग किया करते हैं। स्थूल वालक मे स्फूर्ति नही होती। अत अपने साथियो के साथ ठीक से खेलने मे उसकी रुचि नही रहती। इसका फल यह होता है कि उनमे वहुत से आवश्यक सामाजिक गुणो का अभाव रह जाता है।

कुण्ठित शारीरिक विकास

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कुण्ठित शारीरिक विकास का मानसिक विकास पर बडा बुरा प्रभाव पडता है। जो वालक कण्ठ-ग्रन्थि से पीडित रहता है, उसका शारीरिक तथा मानसिक—विकास धीमा पड जाता है। वहरेपन, अन्धेपन तथा निर्वल हृदय के कारण वालक अन्य वालको के साथ स्फूर्तिदायक खेलो मे भाग नही लेता। फलत वालक का सामाजिक विकास समुचित रूप से नही चल पाता और इसका प्रभाव उसके सारे व्यवहार पर पडता है। दूसरे वालक भी ऐसे बालक की ओर कुछ हेय दृष्टि से देखते है। वे उसे चिढाते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं अथवा उसके प्रति सहानुभूति दिखलाते हैं। चिढाने, अवहेलना तथा सहानुभूति का वालक के व्यक्तित्व पर वडा प्रभाव पडता है। मैक्सफील्ड और फेल्ड का कहना है कि अधापन छोटे बालको को अन्य समान सामान्य वालको की अपेक्षा सुस्त तथा कम आत्मनिर्भरता वाला बनाता है। वहरेपन से उनके अनुसार लडके कुछ मूर्ख दिखलाई पडते हैं। वहरे लडके भाषा-सम्बन्धी सभी विषयो के पढने मे कमज़ोर हो जाते हैं, क्योकि भाषा-ज्ञान के कम होने के कारण उन्हे समझने मे बडी कठिनाई होती है।

बालक जो कुछ सोचता है, अनुभव करता है तथा कहता है वह उसके शारीरिक विकास पर इतना अधिक निर्भर करता है कि यह कहा जाता है कि बालक अपने शारीरिक विकास की अवस्थानुसार ही व्यवहार करता है। इस प्रकार बालक के व्यवहार-विकास पर उसकी उम्र का उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसके शारीरिक विकास का पडता है।

शारीरिक विकास के अध्ययन की विधियाँ

शारीरिक विकास के अध्ययन के लिए दो विधियो का प्रयोग किया जाता है —

(१) पहली विधि मे साल-साल पर उसी बालक का बार-बार

अध्ययन किया जाता है और इस प्रकार उसकी विकास-गति को समझने की चेष्टा की जाती है। इस विधि को अंग्रेजी मे 'लॉञ्गी ट्यूडिनल मेथड' कहते हैं।

(२) दूसरी विधि मे विभिन्न उम्रो के लिए विकास की दृष्टि से एक प्रतिमान निर्धारित करने के हेतु विभिन्न उम्र के व्यक्तियो के वडे समूह का अध्ययन किया जाता हैं। इस विधि को अंग्रेजी मे 'हारीजेन्टल या क्रास सेक्शन मेथड कहते हैं। प्रतिमान को अत्यधिक प्रमाणित वनाने के लिए इस विधि मे किसी उम्र के वहुत से व्यक्तियो का अध्ययन किया जाता है, जिससे विविध व्यक्तियो की विभिन्नताओ का निष्कर्ष पर कम-से-कम प्रभाव पडे। आजकल पहली विधि के अनुसार अधिक कार्य किया जाता है। इस विध मे वहुत से वालको के समूह की कुछ वर्ष तक नियमित मध्यान्तर पर परीक्षा की जाती है। इस प्रकार विकास-सम्बन्धी निष्कर्ष अधिक प्रामाणिक होता है। शटलबर्थ ने इसी विधि की श्रेष्ठता सिद्ध की है। उसने देखा कि १२ वर्ष तक २४८ व्यक्तियो के वार-वार परीक्षण करने से जो निष्कर्ष निकलता है उसकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से २,७०,००० व्यक्तियो पर परीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष के समान था। अत पहली विधि अधिक प्रामाणिक निष्कर्ष देती है। इसमे वैयक्तिक वैभिन्त्य को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है और विकास की सामान्य गति का भी इससे अच्छा सकेत मिलता है।

दूसरी विधि से किसी समूह, जाति, जनसख्या तथा स्त्री अथवा पुरुष-वर्ग के विकास के साधारण रुख का पता लगाया जा सकता है। पहली विधि से विभिन्न काल मे अपने ही विकास से व्यक्ति के साधारण विकास का रुख समझना सम्भव होता है। इस प्रकार उसके समूह-विशेष से भी उसकी तुलना की जा सकती है। पहली विधि के अनुसार शारीरिक विकास के अध्ययन से यह पता चलता है कि विकास की गति एक चक्र के अनुसार चलती है। इस चक्र गति मे कभी विकास द्रुत गति से चलता है और कभी उसकी चाल धीमी पड जाती है। पहली विधि के

अनुसार अपने सात वर्ष के 'हारवर्ड ग्रोथ स्टडी' के फलस्वरूप 'राथनी' का कथन है कि "यह जोरदार शब्दो मे कहा जा सकता है कि जन्म से प्रथम दो वर्ष तक विकास वडी ही द्रुत गति से चलता है, और तरुणावस्था आने के तीन वर्ष तक विकास की गति चलती रहती है, पर प्रथम दो वर्ष के काल की तरह विकास-गति तीव्र नही होती है। परन्तु १६वे और १९वे वर्ष के बीच इसकी गति कुछ धीमी हो जाती है। लडके और लडकियो दोनो की विकास-गति प्राय समानान्तर चलती है , परन्तु किशोरावस्था के पास दोनो की गतियो मे भेद आ जाना है।

पहली विधि के अनुसार अपने अध्ययन के आधार पर 'कोर्टिस' ने विकास की नीचे लिखी चार अवस्थाओ का उल्लेख किया है —

१—जन्म के पूर्व गर्भाशय मे।

२—प्रथम पाँच या छ वर्षों तक शैशव। इस अवस्था मे विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील हो जाती है और बच्चा रेगना, चलना और बात करना सीख लेता है।

३—लगभग पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक बचपन। इस काल मे स्थायी दाँत आ जाते हैं। बच्चा पढना, लिखना और कुछ हद तक अपनी देख-रेख करना सीख लेता है। इस प्रकार के विकास के कारण व्यक्तित्व पर बडा प्रभाव पडता है।

४—साधारणत १२ से १८ वर्ष तक किशोर। इस काल मे ज्ञानेन्द्रियो का पूर्ण विकास हो जाता है। इस विकास से व्यक्ति मे सवेगात्मक सामाजिक तथा अन्य व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुणो मे क्रातिकारी परिवर्तन आते हैं।

कोर्टिस के अनुसार इन विविध अवस्थाओ का ऊँचाई, तौल, हड्डियो, वुद्धि, ज्ञानप्राप्ति खेल मे रुचि तथा सामाजिक क्रियाशीलताएँ आदि के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विकास चक्र

विकास का रूप सदा किसी एक नियम के अनुसार नही चलता,

अर्थात् बालक की तौल वर्ष-भर मे किसी निश्चित रूप मे नही बढती। किसी वर्ष अधिक बढती है और किसी वर्ष कम। वस्तुत विकास का एक चक्र अथवा लहर होती है। यदि विकास की गति किसी समय तीव्र हुई तो बाद मे वह अवश्य कुछ धीमी पड जाती है, क्योकि सुसगठन के लिए अवयवो विशेष को कुछ समय की आवश्यकता होती है। मेरिडिथ ने १२४३ बालको के अध्ययन मे विकास के चार चक्रो को पाया। उसके अनुसार प्रथम दो वर्ष तक विकास का एक ऐसा काल होता है जब विकास बडी ही द्रुत गति से चलता है। दूसरे से ११वे वर्ष तक विकास की गति धीमी रहती है। ग्यारहवे से १५वे वर्ष तक विकास फिर पहले की तरह द्रुत गति से चलता है। फिर १५वे या १६वें से १८वें वर्ष तक विकास की गति धीमी पड जाती है। जैसा ऊपर कहा गया है कि विकास-चक्र मे बडा वैयक्तिक पाया जाता है।

शरीर के प्रत्येक अग के विकास का अपना-अपना नियम होता है। प्रत्येक अग के द्रुततम विकास का समय भिन्न-भिन्न होता है और प्रत्येक के विकास की चरम सीमा अलग-अलग समय पर पहुँचती है। माँस-पेशियाँ, हड्डियाँ, फेफड तथा जननेन्द्रियाँ अपने विकास-काल मे अपनी पूर्व अवस्था से बीस गुना बढती हैं। आँखे, मस्तिष्क तथा कुछ अन्य अवयव इतना अधिक नही बढते, क्योकि जन्म के समय वे अपेक्षाकृत अधिक विकसित रहते हैं। उदाहरणार्थ, आँख की पुतली प्रथम पाँच वर्षों मे अपने अन्तिम स्वरूप पर आ जाती है। शरीर के ऊपरी अंगो का विकास अपेक्षाकृत शीघ्रता से होता है और वे अपनी परिपक्वावस्था पर जल्दी आते हैं। अत मस्तिष्क और चेहरा आदि ऊपरी अग धड तथा हाथ-पैर की अपेक्षा जल्दी बढते है।

अध्ययन के आधार पर देखा गया है कि जुलाई से जनवरी के अन्दर तौल बहुत बढती है। फरवरी से अप्रैल तक तौल के इस बाढ का प्रायः एक चौथाई ही बढ पाता है। मई और जून के महीने मे तौल की बाढ अन्य महीनो से बहुत कम होती है। ऊँचाई के सम्बन्ध मे एक दूसरा ही

नियम दिखाई पडता है। अप्रैल से अगस्त के अन्दर ऊँचाई सबसे अधिक वढती है। अगस्त से नवम्वर के अन्दर ऊँचाई की वाढ कम होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि तौल और ऊँचाई की वाढ की गति एक-दूसरे के विपरीत चलती है।

तौल की बाढ़

जन्म के समय एक सामान्य शिशु की तौल ५ से ८ पौण्ड के अन्तर्गत होती है। साधारण जन्म के समय लडकियाँ लडको से हलकी होती हैं। जन्म के वाद प्रथम सप्ताह मे शिशु की तौल कुछ घट जाती है, क्योकि नए प्रकार के भोजन तथा वातावरण के प्रति व्यवस्थित होने मे उसे कुछ समय लगता है। प्रथम महीने के अन्त तक शिशु अपना खोया हुआ तौल पाकर उसमे कुछ वाढ भी दिखलाता है। चौथे महीने के लगभग जन्म से तौल दुगुनी हो जाती है, अर्थात् इस समय शिशु की तौल १४ पौण्ड के लगभग होनी चाहिए। आठवें महीने पर शिशु की सामान्य तौल १६ से १९ पौण्ड के अन्तर्गत होती है। जिन शिशुओ को माँ का दूध पीने को नही मिलता उनकी तौल प्रथम आठ महीने मे सामान्यत कुछ कम होती है। प्रथम वर्ष के अन्त मे उसकी तौल जन्म से लगभग तिगुनी, अर्थात् २१ पौण्ड सामान्यत होनी चाहिए। इस प्रकार प्रथम वर्ष के अन्तिम चार महीनो मे जो तौल मे विशेष वाढ नही होती उसका कारण यह है कि इस समय शिशु अपनी जागृतावस्था को अधिकाशत रेंगने तथा चलने आदि सीखने मे देता है, और शारीरिक परिश्रम मे उसकी मासपेशियो की मोटाई अनुपात की दृष्टि से पहले से कुछ कम ही हो जाती है। दूसरे और तीसरे वर्ष के अन्तर्गत सामान्यत प्रतिवर्ष ३ से ५ पौण्ड के अन्तर्गत तौल मे वाढ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो वर्ष के शिशु को २२ और तीन वर्ष वाले को २९ या ३० पौण्ड का होना चाहिए। जन्म के समय जो शिशु साधारणात तौल मे अधिक होते हैं वे प्रथम तीन वर्ष के अन्तर्गत तौल मे सामान्यत कुछ अधिक होते हैं।

छ वर्ष की उम्र पर बच्चे की तौल जन्म से पाँचगुनी अर्थात् ३५

और ४० पौण्ड के अन्तर्गत होनी चाहिए। नवे या दसवे वर्ष के प्रारम्भ मे लडकियो की तौल मे वाढ की गति द्रुत गति से वढती है और वारह वर्ष पर गति अपनी द्रुतता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है और इस समय प्रतिवर्ष लगभग १४ पौण्ड की वाढ उसमे होती है।

लडको मे तौल की सबसे अधिक वाढ लगभग १४ वर्ष मे आती है और उसमे प्राय १५ पौण्ड प्रतिवर्ष के हिसाव से वाढ होती है। चौदह वर्ष के वालक की औसत तौल लगभग ०५४ पौण्ड और १६ वर्ष के होने पर उसकी औसत तौल ११६ ७ पौण्ड होती है। किशोरावस्था के अन्तिम वर्षो मे जो बाढ होती है वह माँसपेशियो तथा अस्थि-पञ्जर के विकास पर निर्भर करती है।

११वें वर्ष से १४वें वर्ष तक के काल को छोडकर अन्य समय लडके लडकियो से प्राय तौल मे अधिक होते हैं। इस काल मे लडकियो की तौल मे अत्यधिक वाढ उनमे तरुणावस्था के आगमन के कारण होती है।

ऊँचाई की बाढ़

जन्म के समय शिशु की ऊँचाई लगभग १९ या २० इच रहती है। वशानुसक्रमण, स्त्री या पुरुष-भेद तथा किसी जाति विशेष के कारण इस औसत ऊँचाई से जन्म के समय शिशु की ऊँचाई कुछ अधिक या कम हो सकती है। प्रथम दो वर्षो मे ऊँचाई वहुत वढती है। प्रथम चार महीने मे शिशु लगभग २½ या ३½ इच वढ जाता है और २२ या २३ इच का हो जाता है। आठ महीने पर उसकी ऊँचाई २५ या २७ इच के करीव होनी चाहिए। एक वर्ष पर उसकी ऊँचाई २७ और २९ इच के अन्तर्गत आती है। दूसरे वर्ष मे उसकी ऊँचाई लगभग ४ इच वढ जाती है। तीसरे से छठे वर्ष मे ऊँचाई मे वाढ की गति इतनी द्रुत नही रहती। इस काल मे प्रतिवर्ष लगभग ३ इच लम्वाई वढती है। इस प्रकार ६ वर्ष की अवस्था पर वच्चे की उम्र वचपन मे लगभग दूनी अर्थात् ४० इच होती जाती है।

तरुणावस्था आने के पूर्व, अर्थात् १०वें और १२वें वर्ष के अन्तर्गत ऊँचाई की बाढ कम होती है, परन्तु यह बाढ नियमत चलती रहती है। बारह वर्ष की अवस्था मे बच्चा जन्म से २$\frac{3}{4}$ गुना ऊँचाई मे बढ जाता है, अर्थात् वह ५५ इच के लगभग हो जाता है। इससे १४ वर्ष की उम्र मे लडकियो का और १२ से १४ वर्ष की उम्र मे लडको का सभी दृष्टि से शारीरिक विकास बडी द्रुत गति से चलता है। इसके बाद १८ या २० वर्ष तक विकास बडी धीमी गति से चलता है। इसी समय ऊँचाई की अन्तिम सीमा पहुँच जाती है।

'साइमन्स' का कहना है कि शैशव अथवा पूर्ण कैशोर मे भावी ऊँचाई का अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। उसने देखा कि लडके १५वे अथवा २०वे वर्ष मे प्रौढ व्यक्ति की ऊँचाई पा सकते है, और लडकियाँ १४वें या १८वें वर्ष मे अपनी अन्तिम ऊँचाई पा सकती हैं। लडके या लडकियाँ कितनी लम्बी होगी यह प्राय उनके वशानुसक्रमण पर निर्भर करता है। तथापि एक पुरुष की औसत ऊँचाई ६६ इच और एक स्त्री की ६० इच मानी जा सकती है।

जन्म से लगभग २१ वर्ष तक लडके लडकियो से प्राय लम्बे होते हैं। बारहवे वर्ष मे लड़कियाँ लडको से कुछ अधिक ऊँची हो जाती है। पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे प्राय दोनो समान ऊँचाई के हो जाते है। इसके बाद लडके लडकियो से ऊँचाई मे बढ जाते है और विकास-काल मे सदा बढे ही रहते हैं। जो बालक कैशोर के पूर्व ही औसत ऊँचाई से लम्बे लगते हैं वे प्रौढावस्था मे भी औसत से ऊँचे होते हैं और जो कैशोर के पूर्व छोटे कद के जान पडते हैं वे प्रौढावस्था मे भी छोटे कद के होते हैं। इस प्रकार कैशोर के पूर्व और उत्तर अवस्था की ऊँचाई मे एक निश्चिय सम्बन्ध दिखलाई पडता है। जो लडकियाँ कैशोर मे शीघ्र आ जाती हैं वे अपेक्षाकृत शीघ्रता से अपनी प्रौढावस्था पर पहुँचती हैं। जो लडकी १३ वर्ष की उम्र के पहले ही रजस्वला हो जाती है वह १३ वर्ष के बाद रजस्वला होने वाली लडकियो से लम्बाई मे प्राय १० वर्ष से १४वें

वर्ष तक ऊँची रहती है ।

बच्चे की ऊँचाई पर जाति अथवा वशानुक्रम का काफी प्रभाव पडता है । महाराष्ट्री बालको की औसत ऊँचाई प्राय कम होती है और पजावी बालको की औसत ऊँचाई अधिक होती है। ऐसा जाति-मिश्रण तथा वशानुक्रमीय गुणो के कारण ही होता है । इसी प्रकार उत्तर-योरुपीय प्रदेशो के माता-पिता के बच्चे दक्षिणी योरुपीय प्रदेशो के माता-पिता के बच्चे से कुछ अधिक लम्बे होते हैं । सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का भी प्रभाव पडता ही है । अत गरीब घरो के बच्चो की औसत ऊँचाई अच्छे घरो के बच्चो से कम होती है । मजदूर वर्ग के बच्चे प्राय व्यावसायिक वर्ग के बच्चो से दुर्बल और छोटे कद के होते हैं । विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति से आए हुए बालको की ऊँचाई की तुलना मे मेरिडिथ जैसे वैज्ञानिको का मत है कि मजदूर ८दू वर्ग के बच्चे व्यावसायिक वर्ग के बच्चो से ऊँचाई मे लगभग $\frac{3}{4}$ इच कम थे ।

ऊँचे रहन-सहन का प्रभाव

प्रारम्भिक दिनो मे अत्यधिक पौष्टिक भोजन का भी ऊँचाई और तौल की बाढ पर प्रभाव पडता है । 'बाडल्सा' की गणना के अनुसार हारवर्ड के विद्यार्थियो की वर्तमान पीढी अपने पिता की अपेक्षाकृत १$\frac{1}{3}$ इच अधिक लम्बी और १० पौण्ड अधिक तौल मे है । चार पूर्वीय कालेजो के विद्यार्थी अपने पिता से १ १ इच अधिक लम्बे और ३ ९ पौण्ड तौल मे अधिक थे । 'मेरिडिथ' के अनुसार सयुक्त राज्य अमेरिका के आजकल के बालक आज से ५० वर्ष पूर्व वाले बालको से ६ से ८ प्रतिशत अधिक लम्बे होते हैं । कहना नही होगा कि यह अन्तर पहले से रहन-सहन का स्तर उच्चतर हो जाने की वजह से हुआ । ऊँचाई और बुद्धि-स्तर मे परस्पर-सम्बन्ध को समझाने के लिए 'हालिङ्गवर्थ' ने ९ से ११ वर्ष की उम्र वाले बालको पर अन्वेषण किया । इन बालको की बुद्धिलब्धि सम्बन्धी गुणाक १३५ से १९० के अन्तर्गत थे । उसने इन बालको की ९० से ११० बुद्धिलब्धि गुणान वाले बालको से तुलना की । उसने इन

बालको की तुलना एक तीसरे समूह से की जिसकी बुद्धिलब्धि गुणक ६५ के नीचे था। इन तीनो समूहो के बालको की औसत ऊँचाई क्रमश ५२·६, ५१ २ तथा ४६-६ इच आई। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि बुद्धि और ऊचाई मे एक सम्बन्ध होता है अर्थात् अधिक बुद्धि वाले बालक मन्द बुद्धि की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

विभिन्न अवयवो के विकास में परस्पर सम्बन्ध

जन्म के समय शिशु के विभिन्न अवयवो मे जो सम्बन्ध होता है वह सम्बन्ध प्रौढावस्था पर नही रह जाता, उदाहरणार्थ जन्म के समय सिर अन्य अवयवो की तुलना मे अनुपातत अधिक बडा लगता है। इस अनुपात का विभिन्न-विभिन्न अवयवो के विकाम पर बडा प्रभाव पडता है। विकास के रूप मे विभिन्न अवयव-सम्बन्धी अनुपात शीघ्रातिशीघ्र पाने के लिए प्रकृति की ऐसी व्यवस्था है कि कोई अवयव शीघ्र बढ जाता है और किसी का विकास बड़े ही धीरे-धीरे होता है। अत कोई अवयव पहले परिपक्वावस्था पर आ जाता है और कुछ बाद मे आता है। परन्तु १७-१८ वर्ष के लगभग विभिन्न अवयव अपने समुचित अनुपात मे प्राय आ जाते हैं। फलत तब व्यक्ति प्रौढ की तरह लगता है।

सिर की बनावट

ऊपर लिखा जा चुका है कि जन्म के समय सिर अन्य अवयवो की अपेक्षा अधिक बडा लगता है। अत जन्म के बाद इसका विकास कम होता है, क्योकि इसे कम ही बढना रहता है। जन्म के समय सिर की तौल पूरे शरीर के तौल की २२ प्रतिशत होती है, यदि सिर की तौल का यह अनुपात बना रहे तो प्रौढावस्था पर व्यक्ति का सिर औसतन ८ या ६ इच लम्बा न होकर लगभग १६ इच अर्थात् इतना बडा हो जाएगा कि वह दैत्य-सा मालूम होगा। प्रौढावस्था तक पहुँचने के क्रम मे सिर की लम्बाई जन्म से दुगनी हो जाती हैं। परन्तु उसका पूरा आकार जन्म से ३½ गुना हो जाता है। शरीर-शास्त्री 'ब्याएड' का कहना है कि जन्म के समय शरीर के पूरे क्षेत्रफल का २१ प्रतिशत सिर का क्षेत्रफल होता है,

पाँचवें वर्ष मे यह प्रतिशत १३, १२वे वर्ष मे १० और १८वे वर्ष मे केवल ८ रह जाता है। जन्म के समय सिर की खोपडी काफी वडी होती है और चेहरे का क्षेत्रफल छोटा होता है। इस समय चेहरे और खोपडी मे १ ८ का अनुपात रहता है। पाँच वर्ष की अवस्था पर यह अनुपात १ ५ का और प्रौढावस्था पर १ २ ५ का होता है और तरुणावस्था के वाद इसका विकास नही होता। अत सिर के आकार मे जो वृद्धि होती है उसमे चेहरे के विकास का विशेप स्थान होता है। क्योकि जन्म के समय सिर की परिधि तीन वर्ष वाली परिधि का $\frac{२}{३}$ होती है। छ वर्ष का प्रौढ आकार का ९० प्रतिशत और १२ वर्ष पर ९५ प्रतिशत सिर हो जाता है। विकास की प्रत्येक अवस्था मे लडके के सिर का आकार लडकी के सिर से वडा होना है।

चेहरा

खोपडी का आकार जन्म के समय ही वहुत वडा होता है। अत प्रारम्भ मे सिर अन्य अवयवो की तुलना मे भद्दा जान पडता है। सिर का ऊपरी हिस्सा चेहरे की तुलना मे वडा दिखलाई देता है। चेहरे के नीचे का हिस्सा शैशव तथा वचपन मे दाँतो के न होने अथवा छोटे होने के कारण छोटा होता है। प्रथम सात वर्ष के अन्दर चेहरे की हड्डियाँ वहुत वढ जाती हैं। जब तक स्थायी दाँत नही आ जाते तब तक मुंह, दाढी और नीचे का सारा भाग ऊपर के भाग की तुलना मे छोटा होता है। परन्तु इस समय तक मस्तिष्क का विकास वडी ही द्रुत गति से चलता रहता है। तरुणावस्था के आते-आते माथा चपटा हो जाता है, होठ भर जाते हैं और चेहरा गोलाकार के स्थान पर अण्डाकार दिखलाई पडता है।

नाक

चेहरे के अन्य अगो की अपेक्षा नाक का विकास वडे वेडौल रूप में चलता है। कुछ प्रथम वर्षों तक नाक वहुत छोटी दिखलाई पडती है और

चेहरे मे चपटी जान पडती है। परन्तु नाक की कोमलास्थि के वढने के साथ नाक वडी होने लगती है और इसका स्वरूप भी सुडौल होने लगता है। तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था मे नाक का पूर्णरूपेण विकास हो जाता है और लडको की नाक के वाल पहले से वहुत मोटे और मजवूत हो जाते हैं। नाक के इस प्रकार जल्दी प्रौढ हो जाने से किशोर थोडा चिन्ता करने लगता है और सोचता है कि उसका चेहरा सदा के लिए भद्दा हो गया।

धड़

यदि वालक का धड वेडौल रूप मे वढ जाता है तो उसका सतुलन विगड जाता है और वैठने, खडे होने तथा चलने मे उसे कठिनाई होती है। अत इसे ठीक करने की शीघ्र चेष्टा करनी चाहिए। धड और पैर के लम्बा हो जाने से यह अपने-आप ठीक हो जाता है और शरीर सुडौल होने लगता है। 'वेले' और 'डेविस' के मतानुसार प्रथम वर्षों मे शरीर के साधारण आकार मे वडा परिवर्तन आता है। प्रथम वर्ष मे शिशु वड़ा मोटा हो जाता है। इसीलिए तो इस समय तौल मे जितनी वृद्धि होती है उतनी ऊँचाई मे नही होती। छ वर्ष की अवस्था पर धड लम्बाई और चौडाई मे जन्म से दुगना हो जाता है। इसके वाद शरीर दुबला होता जाता है और तरुणावस्था के आने पर उसकी चौडाई फिर वढने लगती है। छठे वर्ष से कैशोर तक शरीर लगभग ५० प्रतिशत लम्बाई मे वढ जाता है। प्रौढावस्था पर धड जन्म से लगभग २½ गुने से कुछ ही कम होता है। कैशोर के आते-आते छाती गहरी और लम्बी हो जाती है। किशोरावस्था मे कूल्हे भी खूब बढते हैं।

भुजाएँ और पैर

पैर की वृद्धि से शरीर पहले से अधिक सुडौल होने लगता है। जन्म के समय अनुपातत. शिशु के पैर वहुत ही छोटे होते है और भुजाएँ वहुत वढी जान पडती हैं, हाथ और पाँव वहुत ही छोटे होते हैं अतः सुडौल-

पन लाने के लिए विकास की विभिन्न गतियो का आना आवश्यक है।

जन्म के दूसरे वर्ष के अन्दर भुजाएँ और हाथ ६० से ७५ प्रतिशत के लगभग बढ जाते हैं। आठ वर्ष की अवस्था मे भुजाएँ दो वर्ष की अवस्था से ५० प्रतिशत बढ जाती हैं। इस समय वे वडी ही पतली जान पडती हैं और मालूम होता है कि उनमे मॉसपेशियो का अधिक विकास नही हुआ है। ८ से १६ या १८ वर्ष तक भुजाओ का विकास वडी ही धीमी गति से चलता है।

जन्म के दूसरे वर्ष तक पैर ४० प्रतिशत बढ जाते हैं। आठवें वर्ष में दूसरे वर्ष की अपेक्षा वे ५० प्रतिशत बढ जाते है। इस प्रकार भुजाओ की तुलना मे पहले पैर का विकास धीमी गति से चलता है। कैशोर मे जन्म के समय से पैर चौगुने और प्रौढावस्था पर पाँचगुने हो जाते है। भुजाओ की तरह पैर भी कैशोर तक पतले रहते हैं। जब लम्बाई का वढना कुछ बन्द हो जाता है तब मॉसपेशियो का विकास पहले से अधिक होने लगता है।

हाथ और पाँव

नवजात शिशु के हाथ और पाँव वडे ही छोटे होते हैं। जब तक वे आकार मे और वढ नही पाते और उनमे कुछ अधिक शक्ति नही आ जाती तब तक उनसे कोई काम लेना असम्भव होता है। अत प्रथम दो वर्षों मे उनका विकास वडी द्रुत गति से चलता है। इसके वाद तरुणा-वस्था तक विकास की गति धीमी रहती है। परन्तु चौदह वर्ष की अवस्था पर उनकी लम्बाई प्राय अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जो लडके और लडकियाँ विकास के नियमो से अवगत नही रहते उन्हे इससे वडा मानसिक क्लेश होता है, क्योकि उनके अनुसार हाथ और पाँव का वहुत बढ़ जाना सौन्दर्य के विरुद्ध है। कुछ लडकियाँ अपने पाँव को छोटा करने के लिए अथवा उसकी लम्वाई को छिपाने के लिए चुस्त जूते पहनती हैं। कुछ अन्य किशोर अपने हाथो को पीछे रखकर अथवा जेव मे

छिपा करें उनकी लम्बाई के कारण कल्पित भद्दे पन को छिपाने का प्रयास करते है।

हड्डियाँ

हड्डियो मे विकास का तात्पर्य उनके आकार की वृद्धि, सख्या का वढना तथा उनकी रचना मे परिवर्तन आ जाना है। एक्सरे द्वारा परीक्षा के आधार पर अन्वेषण करके वेले ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम वर्ष मे हड्डियो का विकास वडी द्रुत गति से चलता है, इसके पश्चात् ज्यो-ज्यो उम्र वढती जाती है उनके विकास की गति मे धीरे-धीरे कमी आने लगती है।

भुजाओ और पैर की लम्वी हड्डियाँ तरुणावस्था मे विशेष रूप से बढती हैं, परन्तु इसके वाद भी इनका विकास कई वर्षो तक चलता रहता है। तरुणावस्था पर कूल्हे की हड्डियाँ लडके और लडकियो दोनो मे बहुत वढ जाती हैं। इससे कमर के पास की परिधि काफी वढ जाती है। चेहरे की हड्डियो के वढने से किशोर व्यक्ति के चेहरे के स्वरूप मे भी वडा परिवर्तन दिखलाई पडता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किशोर में हड्डियो का विकास पर्याप्त होता है।

हड्डियो की स्थिति और संख्या

जन्म के समय शरीर मे कुल २७० हड्डियाँ होती हैं। चौदह वर्ष की अवस्था तक इनकी सख्या ३५० तक पहुँच जाती है। आश्चर्य है कि तरुणावस्था के वाद हड्डियो की सख्या मे वृद्धि न होकर कमी आ जाती है और प्रौढावस्था के बाद मध्य जीवन मे जन्म से भी कम उनकी सख्या रह जाती है और आखिर समय तक केवल २०६ हड्डियाँ ही पाई जाती है। एक्सरे द्वारा किसी वच्चे के हाथ की हड्डियो की परीक्षा से इस कमी का कुछ अनुमान मिलता है। दो वर्ष की अवस्था मे कलाई मे दो या तीन हड्डियाँ दिखलाई पडती हैं। छ वर्ष पर ६ या ७ हड्डियाँ जान पडती है और १२ से १५ वर्ष के अन्दर ८ हड्डियाँ मालूम होती हैं। बात यह

है कि उम्र के बढने पर अपने विकास के क्रम मे कई हड्डियाँ आपस मे मिलकर एक हो जाती है। फलत कुछ दिन के बाद उनकी सख्या मे कमी हो जाती है।

जन्म के समय हड्डियाँ वडी ही कोमल और लचीली होती हैं। शरीर के कुछ स्थान मे ऐसी झिल्लियाँ होती है जो बाद मे हड्डियो के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। अस्थिपजर के कुछ भागो मे ऐसी हड्डियाँ होती हैं जो बाद मे मिलकर एक हो जाती है। अठारह महीने की अवस्था तक लगभग ५० प्रतिशत शिशुओ के कपाल की एक-दूसरे से अलग हड्डियाँ आपस मे जुड जाती है और दो वर्ष की अवस्था तक तो प्राय सभी की जुड जाती हैं। लडकियो की ये हड्डियाँ बालको से शीघ्रता से जुटती हैं। जन्म के समय रीढ वडी ही कोमल होती है और उसे वडी सरलता से अव्यवस्थित किया जा सकता है, क्योकि वह कोमलास्थियो से निर्मित होती है। प्रथम तीन वर्ष के अन्दर रीढ की हड्डियो का प्राय· $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{3}$ भाग विकसित हो जाता है।

बच्चो की हड्डियाँ वडी ही कोमल होती हैं। अत· बिना किसी विशेष कठिनाई के उन्हे किसी भी आसन मे व्यवस्थित किया जा सकता है, उदाहरणार्थ उनके मस्तक को घुटने से छुडाया जा सकता है, अथवा पाँव को हलासन के क्रम से मस्तक से छुआना कठिन न होगा। परन्तु लचीली होने के कारण समुचित सावधानी के अभाव मे हड्डियो मे दोष भी आ सकते है। यदि शिशु को बहुत देर तक पीठ के बल पर नित्य सुलाया जाए तो सिर का आकार चपटा हो सकता है, या यदि वह बहुत देर तक नित्य पेट के बल लेटा रहता है तो छाती चपटी हो सकती है। बचपन मे छोटे जूते पहनने से पाँव छोटा हो सकता है अथवा उसका आकार बिगड सकता है। स्कूल-डेस्क पर झुक कर बैठते रहने से कमर के रीढ की हड्डी टेढी हो सकती है।

हड्डियो के दृढ होने की क्रिया

ऊपर यह कहा जा चुका है कि बाद मे चलकर कुछ झिल्लियाँ

हड्डियो के रूप मे परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया जन्म के बाद प्रथम वर्ष से प्रारम्भ होती है और तरुणावस्था के कुछ ही पूर्व बाद बद हो जाती है। कैलशियम, फॉसफोर्स तथा अन्य खनिज पदार्थों की सहायता से हड्डियाँ बनती अथव दृढ होती है। हड्डी बनने की क्रिया मे, हड्डी मे ६० प्रतिशत से अधिक विभिन्न खनिज पदार्थ आ जाते हैं। शरीर के विभिन्न अगो मे हड्डियो के बनने अथवा दृढ होने की क्रिया विभिन्न गति से चलती है। लडकियो मे यह क्रिया लडको से दो वर्ष पहले ही समाप्त हो जाती है।

दाँत

बच्चो के दो प्रकार के दाँत होते हैं अस्थायी अथवा दूध के और स्थायी। इन दोनो प्रकार के दाँतो मे कई विभेद पाए जाते हैं। अस्थायी दाँत स्थायी से छोटे होते हैं। स्थायी दाँत मे उत्तमतर तत्वो का समावेश रहता है। अत वे अधिक दिन तक चलते हैं।

दाँत का विकास एक क्रमिक रूप से चलता है। यह क्रम गर्भाशय मे पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाता है। अस्थायी दाँतो के आगमन के समय शिशु को बडी यातना सहनी पडती हैं, उसे कई दस्त आते हैं, उसकी भूख मारी जाती है और वह बहुत ही चिडचिडा हो जाता है। अस्थायी दाँतो के आगमन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह होता है कि प्रत्येक स्थायी दाँत यह दिखलाता है कि बालक प्रौढावस्था की ओर अग्रसर हो रहा है और अपने विकास-क्रम के अनुसार वह प्रौढ व्यक्तियो के अधिकारो को भी पहले से अधिक समझने लगता है।

अस्थायी दाँत

तीसरे महीने से लेकर १६वें महीने के अन्दर पहला अस्थायी दाँत अवश्य आ जाता है, परन्तु सामान्यत ६वें या ८ वें महीने मे पहला दाँत आ जाता है। नीचे के दाँत ऊपर वालों से पहले आते है। दाँतो के आने का समय साधारण स्वास्थ्य, जन्म के पूर्व और बाद पौष्टिक भोजन, सामाजिक स्थिति, जाति तथा अन्य कुछ बातो पर निर्भर करता है।

प्राय यह देखा जा सकता है कि लडकियो मे लडको से पहले दाँत आते हैं और स्थायी स्थान देने के लिए वे पहले गिर भी जाते हैं।

स्थायी दाँत

अस्थायी दाँतो के आ जाने पर स्थायी दाँत ऊपर आने के क्रम मे मसूडो के नीचे-नीचे अपनी तैयारी करने लगते है। साधारणतः ६ वर्ष की अवस्था मे बच्चे को एक या दो स्थायी दाँत आ जाते हैं। आठ वर्ष की उम्र मे १० या ११; दस वर्ष पर १४ या १६; बारह वर्ष पर २४ या २६, और तेरह वर्ष पर २७ या २८ दाँत प्राय आ जाते हैं। अन्तिम चार स्थायी दाँत १७वे और २५वें वर्ष के अन्तर्गत आते हैं। बहुत सम्भव है कि किसी-किसी को वे न भी आएँ।

मन्द-बुद्धि बालको के एक स्कूल से 'कोहेन और एण्डरसन ने २१८ बालको का यह जानने के लिए अध्ययन किया कि स्थायी दाँतो के आगमन और मानसिक उम्र मे क्या सम्बन्ध होता है। उन्होने देखा कि विकास की प्रत्येक अवस्था मे मन्द बुद्धि बालक के स्थायी दाँत कम आते हैं। पूर्वकाल मे दाँतो के आगमन के सम्बन्ध मे उसका भेद उतना स्पष्ट नही था जितना कि उत्तर-काल मे दाँतो के सम्बन्ध मे स्पष्ट था। मन्द बुद्धि बालको मे 'बगल के दाँत' कभी-कभी नही होते थे, परन्तु सामान्य बालको के सम्बन्ध मे यह बात नही पाई जाती थी।

दाँत एक तरह की हड्डी है। चूने की जाति का नमक (Cal cium Solts) और सरेश(gelatine) इसके गठन के प्रधान उपकरण है। हरेक दाँत पर एक तरह का सफेद आवरण (dentine) रहता है। दाँत की देह का आवरण पत्थर की तरह होता है। यह बहुधा कड़ा और चिकना होता है।

दाँत का आकार एकदम निखालिस नही होता। इसकी जड मे सीकड के पास एक छेद रहता है। इसी छेद से होकर मस्तिष्क से स्नायु और रक्तवह नाडी प्रवेश कर इसके खोल मे फैली हुई रहती है। ये रक्तवह नाडियाँ और स्नायु ही दाँतो की मज्जा (Tooth Pulp) है।

भोजन पर ही जीवन निर्भर रहता है। इसके अलावा दाँतो पर आहार भी बहुत कुछ निर्भर करता हैं। अतएव चबाकर खाने से भोजन सहज मे ही पच जाता है। अच्छी तरह बचपन से ही इस विषय मे सावधान रहना चाहिये। भोजन करने के बाद यदि दाँत मे कुछ अडा रहे तो सीक या कोई साफ महीन लकडी से उसे निकाल देना चाहिये। थोडा-सा भी खाने के बाद मुँह और दाँत अच्छी तरह मलकर धो डालना उचित है, नही तो खाद्य पदार्थ के करण, थोडी देर बाद ही सडकर अम्ल रस हो जाते हैं। यह अम्ल रस लगा रहने के कारण दाँत का आवरण (enamel) धीरे-धीरे क्षय होने लगता है और वह जल्द ही नष्ट हो जाता है, क्योकि दाँत का आवरण जितना कडा होता है, वे उतने कडे नही होते, यहाँ तक कि दन्तावरण (dentine) मे थोडी-सी हवा लगने से ही वह नष्ट हो जाता है।

जीभ

जीभ (Tongue) स्वाद लेने का प्रधान सहायक हैं। यदि जीभ नही रहती, तो हम लोग बोल भी नही सकते। दूसरी बात यह कि यदि जीभ को 'स्वास्थ्यदर्पण' कहा जाए, तो भी अत्युक्ति न होगी। स्वास्थ्य अच्छा रहने पर जीभ का रग स्वाभाविक रहता है, नही तो वह बदरग हो जाती है। चबाने मे भी जीभ बहुत कुछ सहायता करती है। जीभ माँसपेशी से बनी रहती है और इस पर एक तरह की झिल्ली चढी रहती है।

माँसपेशियाँ

ये जिन और जैसे तन्तुओ से बनी हुई या उत्पन्न है, उनसे साफ मालूम होता है कि वे एक ही पदार्थ हैं। माँसपेशी या कुछ माँसो का गुच्छा है या एक-एक माँस-सूत्र है। सारे शरीर का जो वज़न होता है उसकी आधी-पेशियाँ होती हैं (Muscles make up about one half of talal body weight)। किसी प्रतिमा का ढाँचा जिस तरह मिट्टी

से लेप हुआ रहता है, मनुष्य का ककाल भी उसी तरह माँस और पेशियो द्वारा ढँका रहता है। इन पेशियो की सख्या लगभग पाँच सौ है। इनका गुण यह है कि ये स्थिति-स्थापक है और इन्हे सहज मे टेढा-मेढा और सकुचित किया जा सकता है। ये माँस-पेशियाँ कितने ही सूत-जैसे माँसो की मिलावटमात्र हैं। इनका कुछ अश स्वच्छ है पर इनमे खून लगा रहता है। इसलिये ये लाल दिखाई पडती हैं। इनका बीच का भाग पतला दिखाई देता है, परन्तु दोनो सिरे पर नुकीले पतले रहते हैं। पेशियो मे सैकडे के ७५ भाग परिमाण मे पानी रहता है।

आन्तरिक अवयवो मे परिवर्तन

पेशियो को कई भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्लेन या चिकनी और स्वच्छ, हमारी इच्छानुसार काम करने वाली या ऐच्छिक पेशी और दूसरी धारीदार। स्वत प्रवर्तित या अनैच्छिक पेशी।

पहले प्रकार की पेशी—हमारी इच्छानुसार काम करती हैं जैसे पैर की एडी की, मुँह की इत्यादि।

इच्छा करते ही पैर की एडी की पेशी हिलायी जा सकती है। गर्दन की पेशी से माथा सीधा रखा जा सकता है। मुँह की पेशी से चबाया जा मकता है।

दूसरे प्रकार की पेशियाँ परिवर्तनशील हैं। ये हमारी इच्छा के अधीन नही हैं। बल्कि अनैच्छिक पेशी हैं। पाकस्थली, आँतो की, फेफडे और हृदय की पेशियाँ इसी ढग की हैं। इनका काम हमेशा चला करता है अर्थात् साँस लेने और छोडने मे, खून के दौरान मे, पाचन-क्रिया और प्रसव-क्रिया आदि मे।

श्वास-सम्बन्धी अवयव

श्वास नाली प्राय चार इच लम्बी होती है। यह खोखली और मोटी एक खास नली है। इसका भीतरी भाग श्लैष्मिक-झिल्ली से ढका है और बाहरी भाग एक मोटी झिल्ली से घिरा हुआ है। यह गले की

राह से वक्ष-गह्वर मे चली गई है। वक्ष-गह्वर मे जाने के वाद यह दो शाखाओ मे विभक्त हो गयी है। और इस तरह दो शाखाओ मे बँटकर एक शाखा दाहिने फुसफुस मे और दूसरी वाएँ फुसफुस मे चली गई है। इन दोनो शाखाओ का नाम 'वायुनली' है। श्वासनली, इन दोनो फेफडो मे हवा जाने-आने का प्रधान-पथ है, खासकर इन्ही दोनो राहो से फेफडे मे हवा जाती है, श्वास नाली के अगले भाग को कण्ठनाली या स्वर-यत्र कहते हैं। यह गलदेश के ऊपरी आधे भाग मे लगा हुआ है। इस कण्ठनाली से ही बोलने का शब्द आदि निकलता है।

पाचन-सम्बन्धी अवयव

पाचन-सम्बन्धी अवयव चार स्तरो से वने हैं—(१) सवसे ऊपर वाला स्तर वास्तव मे पाकस्थली का एक ढकना-मात्र है। (२) दूसरा स्तर मास-पेशी द्वारा बनाया हुआ है। पाकस्थली मे भोज्य-पदार्थ जाते ही ये सब मासपेशियाँ लगातार एक-के वाद एक सकुचित होकर मानो लहरें उठने लगती हैं। इस तरह ये दवाव देकर भोजन के पदार्थ को मथने लगती है। इसलिये खाया हुआ पदार्थ तुरन्त चूर-चूर हो जाता है और लेही या चटनी की तरह बन जाता है। तीसरा स्तर रक्तवह नाली और (४) अर्थात् अन्तरतम स्तर मधु-मक्खी के छत्ते की तरह दिखाई देता है। अधिक रस निकलने के लिये इस श्लैष्मिक झिल्ली मे बहुत-से छोटे-छोटे मुंह या छेद हैं।

रक्त-सम्बन्धी अवयव

रक्तः—यह खून एक तरह का पतला पदार्थ है। यह पानी से कुछ गाढा रहता है। इसका रग चमकीला लाल रहता है। असल मे तो खून पानी की तरह ही बिना किसी रग का अर्थात् वर्णहीन होता है, पर इसमे लाल रग की कणिकाएँ तैरती रहती हैं। इसलिए यह लाल दिखाई देता है।

हृत्पिण्ड से कितने ही तरह के नल या नाडियाँ निकलती हैं। इसके द्वारा ही हृत्पिण्ड से शरीर के सब भागो में खून का दौरा हुआ करता है। इसी वजह से इन्हे 'रक्तवह नाडी' कहते हैं। इन रक्त ले जाने वाली नाडियो मे कितनी को 'धमनी', कुछ को 'शिरा' और कितनी ही को केशिका नाड़ियाँ कहते है। जिस नली मे लाल खून रहता है उसको धमनी कहते हैं। जिस नली मे बैंगनी या कालिमा लिये रक्त रहता है उसको शिरा कहते है और जो केश की तरह वहुत पतली-पतली नसे रहती हैं और जिनसे धमनी या शिराओ का आपस मे सयोग हो जाता है उनको केशिक नाडी कहते है।

स्नायु-मण्डल का विकास

मस्तिष्क और मेरुमज्जा की जड से स्नायु वाहर निकलकर शरीर के सब स्थानो मे फैले हुए हैं। ये स्नायु-मडल सारे शरीर मे फैलकर आपस मे सम्बन्ध वनाए हुए है। यद्यपि ये वहुत-से मालूम होते हैं, पर वास्तव मे एक है। मस्तिष्क और स्नायु एक ही वस्तु से वने हैं। जब बच्चा पैदा होता है तो इनका विकास इस रूप मे नही होता वल्कि ये स्नायु धीरे-धीरे अपने वास्तविक रूप मे आते हैं। तीन-चार वर्ष की उम्र के वाद स्नायु-मण्डल के विकास की गति पहले से कुछ कम हो जाती है। मस्तिष्क के विकास का अध्ययन प्रत्यक्षत नही किया जा सकता। विकास का अनुमान मृत व्यक्तियो के मस्तिष्क से अथवा जीवित वच्चो के सिर के वाह्य आकार के माप से कुछ किया जा सकता है। इस प्रकार के माप से यह अनुमान किया जा सकता है कि जन्म से प्रथम चार वर्ष तक विकास की गति कुछ धीमी पड़ जाती है। इसके वाद गति वडी ही धीमी पड जाती है। और लगभग १६वें वर्ष मे इसका विकास एक प्रकार से रुक जाता है। कहा जाता है कि इस अवस्था तक वह अपनी पूर्ण प्रौढता को पा जाता है। कुछ प्रथम महीनो तक खोपड़ी की विभिन्न हड्डियाँ, झिल्लियो द्वारा एक-दूसरे से सम्वन्धित रहती हैं। अत उनके वढने के लिए काफी स्थान रहता है। जन्म के समय मस्तिष्क की तौल ३५० ग्राम

के लगभग रहती है। प्रौढावस्था पर यह तौल १२६० से १४०० ग्राम के बीच आ जाती है। इस प्रकार प्रौढावस्था के तौल की लगभग एक चौथाई, जन्म के समय, नौ महीने मे आधा, दूसरे वर्ष तक तीन-चौथाई, चौथे वर्ष तक चार चौथाई और छठे वर्ष तक नव-दसाई तौल मस्तिष्क का होता है। जन्म के समय मस्तिष्क का तौल पूरे शरीर की तौल का ५/८, दसवे वर्ष मे, ५/१८ तथा पन्द्रहवें वर्ष मे और प्रौढावस्था मे ५/४० रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि वचपन के प्रथम वर्षो मे मस्तिष्क का विकास वडी ही द्रुतगति से चलता है। किशोर मे मस्तिष्क का विकास वहुत ही कम होता है। क्योकि इस समय तक उसकी तौल की प्रौढता आ जाती है। परन्तु वाह्य रचना-सम्वन्धी इसका विकास कुछ-न-कुछ चलता रहता है। आठवे वर्ष तक मस्तिष्क का विकास पूर्ण हो जाता है। परन्तु इससे सम्वन्धित भूरे तत्व (Gray matter) का विकास अभी पूर्णरूपेण नही हुआ रहता।

संवेगात्मक विकास

सवेगात्मक विकास

कुछ मनोवैज्ञानिको का विचार है कि नवजात शिशु का रोना और अपने अगो को पटकना एक प्रकार से सवेगात्मक है। लेकिन इसके विषय मे कोई दृढतापूर्वक कह नही सकता। जव शिशु किसी मनुष्य के चेहरे को देखकर मुसकराता है, तब यह निश्चयात्मक रूप से सवेगात्मक प्रतिक्रिया का प्रदर्शन है। कुछ समय बाद यह आरम्भ की मुसकराहट मुफ्त हँसी परिवर्तित हो जाती है। जब बालक कुछ और वडा होता है, वह अपने क्रोध और घृणा-सरीखे अधिक उद्धत सवेगो को दवाने का प्रयत्न करता है। इसका कुछ कारण वडो का शासन होता है, और वह भी उनका अनुकरण करने का प्रयत्न करता है। तथा कुछ इस कारण भी होता है कि अवस्था वढने के साथ ही बालक का भावो के प्रकट करने वाले प्रतीको अर्थात् भाषा और सकेतो पर अधिक अधिकार हो जाता है और अब वह अपने भावो को प्रकट करने के लिए केवल उत्पाती शारीरिक क्रियाओ पर ही आश्रित नही रहता। प्राय ऐसा होता है कि बालक का सवेग-प्रदर्शन वयस्को की अपेक्षा अधिक प्रबल और प्रत्यक्ष होता हैं। सवेग जागृत करने वाली स्थितियाँ भी उम्र के साथ परिवर्तित होत जाती हैं। शिशु के सवेग केवल उन्ही उद्दीपको से जागृत होते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उसे प्रभाणित करते है, और जिनसे वह आवश्यक रूप से सम्वन्धित होता है। जव वालक वडा होता है उसके ससार का विस्तार होता है, और उसकी रुचियो मे परिवर्तन हो जाता है। सम्भवत अव कुछ वातें, जो

पहले प्रवल सवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती थी, अब उसे प्रभावित नही करती ।

शैशवावस्था मे कोई भी स्थिति, जो शिशु की इच्छाओ एव आवश्यकताओ की सतुष्टि के मार्ग मे वाधा डालती है, सवेग उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए शिशु माता-पिता के साथ वाहर जाना चाहता है, लेकिन वे उसे साथ नही ले जाते । वह चिल्लाना आरम्भ करता है, जो माता-पिता के इनकार करने से उत्पन्न सवेग का परिणाम है । मान लीजिए माता-पिता उसे शान्त करने के लिए एक गुडिया खेलने को दे देते हैं । किसी समय गुडिया वालक को वहुत अधिक आकर्षित करती थी, पर इस समय वह नही करेगी । वह गुडिया इस उपेक्षा-पूर्ति मे असमर्थ है । शिशु वयस्को की क्रिया मे भाग लेने का अत्यन्त इच्छुक था, लेकिन वह अस्वीकृत कर दिया गया । इस कुपेक्षा का वदला वह गुडिया से लेता है, जो माता पिता के छल का प्रत्यक्ष कारण वन जाती है । उसकी प्रतिहिसा क्रूरता मे परिवर्तित हो जाती है, जिसे वालक अन्यथा कभी नही प्रकट करता । धीरे-धीरे यह वालक की आदत हो जाती है । इसी प्रकार वार-वार वालक की इच्छाओ को रोकने से वे चिडचिडे और क्रोधी हो जाते हैं। इससे बचने के लिए बालक और उसकी समय-समय की आवश्यकताओ को समझना चाहिए । हो सकता है कि हम सदा उसकी इच्छाओ को सन्तुष्ट नही कर सकेगे और यह भी हो सकता है कि यह सतुष्टि सदा उचित न हो । ऐसी स्थिति मे उसी के अनुरूप उसके स्थानापन्न(Substitution) का प्रवन्ध करना चाहिए । जब बालक बडो के साथ बाहर जाना चाहते हैं, तो वे मनुष्यो के साथ रहने की इच्छा प्रकट करते है और वे उसे साथ नही ले जा सकते तो ऐसी स्थिति मे बालक के लिए उसके समवयस्क बच्चो का साथ होना चाहिए, अथवा कोई उसे किसी दूसरे स्थान मे ले जाने वाला होना चाहिए ।

प्रारम्भिक सवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ

सवेगो की प्रतिक्रिया की दृष्टि से शिशु को खानपान विछुडन (Weaning) का समय वडा कठिन होता है। जैसे ही दाँत दिखाई देते है वालक को अनेक रोग घेर लेते हैं, और उसकी खाने की आदतें परिवर्तित होने लगती है। स्तनपान अधिकतर रुक जाता है। क्योंकि शिशु अब अपने दाँतो से भी माँ को कष्ट पहुँचाता है। इस रोग का कारण वालक समझ नही पाता है। वह यह समझता है कि वह अपने इस विशेष अधिकार से जो उसे जन्म से ही प्राप्त है, अन्यायपूर्वक वचित किया जा रहा है। कभी ऐसा होता है कि इसी समय परिवार मे एक नया वालक प्रवेश करता है, जो उसकी माँ पर पूर्ण अधिकार कर लेता है। यदि ऐसा होता है तो स्वाभाविक है कि बालक इस नए मेहमान को अपनी समस्त हानियो का कारण समझकर उसके प्रति ईर्ष्यालु हो सकता है। उसकी यह घृणा उत्तेजक रूप मे कभी-कभी बालक को चोट पहुँचाकर भी प्रकट होती है। खानपान विछुडन की अवस्था के पश्चात् वालक व्यक्तिगत खेलो मे रम जाता है। इस समय वह आत्मरत और आत्मकेन्द्रित रहता है तथा बहुत कम उत्तेजित होता है। जब तक वह यह न अनुभव करे कि वह अपने कुछ अधिकारो से वचित कर दिया गया है, अथवा उसकी किसी क्रिया मे वाधा न पहुँचाई जाए, वह शान्त रहता है। अस्वस्थ और अविकसित वालक, जो खेल मे भाग लेने मे असमर्थ रहते हैं। निष्क्रिय और सवेगात्मक या चिडचिडे और आत्मकेन्द्रित रहते हैं, सम्भवत इसका कारण यह होता है कि अपने चित्त को भ्रमित करने के लिए उनके पास कुछ नही होता। उनका चिडचिडापन सम्भवत उनकी अस्वस्थता के कारण होता है।

यदि कोई वालक वहुत जल्दी स्कूल भेज दिया जाता है, तो वह दिन के अधिकाश भाग मे अपने को एक नए वातावरण मे कैद पाता है। विद्यालय के पहले कुछ दिन किसी भी वालक के लिए सघर्ष और उद्विग्नता के होते हैं, क्योकि वह यह नही जानता है कि किस प्रकार

अन्य बालको और अध्यापको के साथ व्यवहार करना चाहिए। बालक अनुभव करता है मानो उसे घर के सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से, जिसे वह जानता था, और जिसमे उसने अपने पूर्ण आत्म-विश्वास का विकास किया था, वहिष्कृत कर दिया गया हो। वह अपनी स्थिति की तुलना अपने छोटे भाइयो से करता है, जो परिवार के अन्य सदस्यो के साथ आनन्द से आराम करते है। जबकि वह एक अपरिचित स्थान मे, अपरिचित लोगो के बीच, एक निश्चित अवरोध के मध्य रख दिया गया है। इससे वह ईर्ष्या और हठ का अनुभव करता है, उसका यह अनुभव माँ का दूध छोडने के समय अनुभव से भिन्न नही होता। पाठशाला जाने के समय वह वहाँ न जाकर खेलने के लिए भाग जाना चाहता है। भीरु बच्चे इतना साहस नही कर पाते, लेकिन जैसा कि शेक्सपियर ने 'ऐज़ यू लाइक इट' (As you Like it) मे लिखा है, वे घोघे की भाँति धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक स्कूल जाते हैं। स्कूल के प्रति इतनी अनिच्छा को समझने के लिए हमे उनके अन्दर चलते हुए सघर्ष को समझना चाहिए। उसके कुछ वाह्य आचरण देखने मे अतार्किक मालूम पडते हैं। पर उन्हे यदि बच्चे की आन्तरिक इच्छा के प्रकाश मे देखा जाए तो उनमे भी अपना एक तर्क होता है। सम्भवत: बालक के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान बालक को अपने समवयस्क बालको के वर्ग मे अधिक समायोजित कर सकेगा। बालक मे सामाजिकता का विकास करने के लिए समार मे इसकी बहुत अधिक आवश्यकता है।

धीरे-धीरे बालक अपनी प्रारम्भिक पाठशाला मे अपने साथियो तथा अध्यापको के साथ समायोजन कर लेता है। लेकिन शीघ्र ही जब वह स्कूल, जो अब उसके लिए दूसरे घर के समान हो जाता है, छोडने तथा माध्यामिक स्कूल मे प्रवेश करने के लिए बाध्य किया जाता है। अत. नई समस्याएँ उठ खडी होती हैं जो नई सवेगात्मक कठिनाइयों को जन्म देती हैं, इसलिए नए प्रकार से समायोजन की आवश्यकता होती है।

माध्यमिक विद्यालय के सवेगात्मक सघर्ष

पाँच वर्ष की विद्यालय की शिक्षा के वाद बालक माध्यमिक विद्यालय के नए वातावरण मे प्रवेश करता है। अधिकाशत इस समय बालक किशोरावस्था की दहलीज़ पर होते है। यदि प्रारम्भिक और माध्यमिक विभाग एक ही सस्था मे होते हैं, तव यह सघर्ष इतना अधिक नही होता है। क्योकि वातावरण परिचित होता है, और वह अपनी ही कक्षा के विद्यार्थियो के साथ माध्यमिक विभाग मे प्रवेश करता है। पर यदि विद्यालय नया होता है तो उसे अपने अधिकाश साथी नही मिल पाते। वह अपनी किशोरावस्था का अनुभव करता है। वह बालक और वयस्क दोनो वर्गों से अलग हो जाता है, जो कि किशोरावस्था मे साधारणत होता है, और वह अपने पुराने मित्रो से भी बिछुड जाता है जो कि दूसरे विद्यालयो मे चले जाते हैं। सामाजिक एकान्तता तथा शारीरिक उन्नति की समस्या बालक को विरक्त-सा बना देती है और वह अपने सवेगात्मक सघर्षों को कल्पना और स्वप्नो मे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। मित्रो का छूटना भी सवेगात्मक दबाव का कारण होता है। सम्भवत. यह समस्या उस बालक के लिए और अधिक जटिल हो जाती है, जिसके नए स्कूल मे प्रवेश के साथ ही पिता का तबादला भी नए स्थान मे हो जाता है, जहाँ कि पूर्ण रूप से वह नए मित्रो से अलग हो जाता है। दो मित्रो के झगडे से भी कभी-कभी गम्भीर रूप से सवेगात्मक भार वढ जाता है, इसका प्रभाव उपेक्षा-योग्य नही है।

इस काल के सवेगात्मक भार का दूसरा कारण सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं, जो कभी-कभी किशोर को विरोधी लिग (Sex) के सदस्यो की उपस्थिति मे आने के लिए वाध्य करती है। हम देख चुके हैं कि किशोर अपने प्रति अत्यन्त सचेत रहते हैं, और सब किशोर विशेष रूप से वालिकाएँ अपने विरोधी जाति के सदस्यों के सम्मुख अत्यधिक व्याकुलता का अनुभव करती हैं। यह वृत्ति तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था

मे विशेष रूप मे पायी जाती है। सह-शिक्षा सस्थाओ तथा समाजीकरण मे इसके लाभ के विषय मे कुछ भी कहा जाए, लेकिन इसे अस्वीकार नही किया जा सकता जब तक दोनो जाति के सदस्य समाज-सरक्षा मे नही होगे, जिस जाति की सरक्षा कम होगी, वही वर्ग विचित्र असुविधा का अनुभव करेगा, और इससे पहले या बाद की अवस्था की अपेक्षा इस अवस्था मे विशेष रूप से सवेगात्मक भार का उदय होगा। सम्भवत किशोर, यद्यपि हृदय से वह भिन्न जाति के सदस्यो की स्वीकृति और प्रशसा का अनुभव करता है। कुछ लडकियो के विद्यालयो मे जब कोई नवयुवक अध्यापक आता है, तो मूर्खतापूर्ण प्रेम की प्रवृत्ति का विकास होता है, जो सवेग और समाज दोनो की दृष्टि से आपत्तिजनक है। यहाँ तक कि जब अध्यापक आदर्शभूत होता है, तथा लडकियाँ गम्भीर और सुसस्कृत होती हैं, कभी-कभी व्याकुल कर देने वाली भावनाएँ व्यर्थ ही कार्य करने वालो के मस्तिष्क मे अपनी स्मृतियाँ छोड जाती हैं। अत यह आवश्यक है कि सह-शिक्षा वाली माध्यमिक सस्थाओ मे पुरुष अध्यापक और स्त्री अध्यापिकाओ की सख्या लगभग समान होनी चाहिये, जिसमे लडके-लडकियाँ अपने स्वजातीय शिक्षक के पास जाकर अपनी इस प्रकार की समस्याओ को हल कर सकें, जिसे वे विरुद्ध जाति के शिक्षक के सामने नही प्रकट कर सकते। लडको की अपेक्षा लडकियो को मातृभावशाली स्त्री-शिक्षिका की आवश्यकता होती है, जो उनकी व्यक्तिगत समस्याओ को कोशिश और सहानुभूति के साथ सुलझा सके। विद्यालयो मे असफलता सवेगात्मक अव्यवस्था का बडा कारण है, क्योकि यह बालक के नवविकसित अह को चोट पहुँचाती है (अपने प्रति आदर कम हो जाने से) और इससे घर तथा विद्यालय मे उसकी स्थिति गिर जाती है। अधिक छोटे बालको की तो सफलता की आकाक्षा ही समाप्त हो जाती है। अवरोध (Detention) का अर्थ भी उसी कक्षा मे रहना, अनिच्छापूर्वक उन्हीं पुस्तको को पढना, और उन विद्यार्थियो के, जिन्हे अभी तक वह अपने से छोटा समझते हुए नीची दृष्टि से देखता

रहा है, साथ रहना होता है। इसका दूसरा अर्थ अपने पुराने मित्रो और कक्षा के साथियो का विद्रोह भी है। इनमे से केवल एक बात ही मानसिक उलझन के लिए पर्याप्त है। इतने तथ्यो के एक साथ मिल जाने पर नैराश्य-भावना का उदय और कार्य मे रुचि का नाश, जिसे मनोविज्ञान मे अवरोधन (Retorduction) कहते हैं, अवश्यम्भावी है।

इसके अतिरिक्त बालको मे सवेगात्मक अव्यवस्था अन्य कारणो से भी उत्पन्न होती है। कभी-कभी घर और विद्यालय मे प्राप्त आचरण की शिक्षा मे अन्तर होता है, और यदि यह अन्तर्द्वन्द्व (Conflict) नही तो गम्भीर रूप से आरक्षा की भावना अवश्य ही उत्पन्न कर देती है। धर्मपरायण और सकुचित विचारो वाले परिवारो से आने वाले बालक के लिए उदार और जाति-भेद न मानने वाले विद्यालय के आचरण-सम्बन्धी कानून एक समस्या बन जाते हैं। इसी प्रकार जाति-पाँति पर विश्वास न करने वाले उदार परिवारो से आने वाले बालक मिशन स्कूल अथवा धार्मिक निर्देश के अनुसार अवस्थित विद्यालयो के साथ उचित समायोजन करने मे बडी कठिनाई का अनुभव करते। हैं ये बालक यदि घर के नियमो का पालन विद्यालय मे करते हैं, तो वे स्कूल मे बहिष्कृत कर दिये जाते हैं और अकेलेपन का अनुभव करते हैं, और यदि वे विद्यालय के नियमो को परिवार के अन्दर व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं तो डाँट खाते हैं। इसी प्रकार अवस्था उस समय भी दृष्टिगोचर होती है जब विद्यालय के अन्य सब विद्यार्थी एक समाज और आर्थिक वर्ग के होते हैं, और आचरण के नियम, विद्यालय के नियमो से बिल्कुल भिन्न होते हैं, जो बालक के लिए बडी उलझन उत्पन्न कर देते हैं। भारत मे ये समस्याएँ जाति-व्यवस्था के कारण उत्पन्न होती है, क्योकि जाति धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक सस्था है, तथा भिन्न-भिन्न जातियो की सस्कृति मे महत्त्वपूर्ण अन्तर है। हमारे जाति-भेद को न मानने वाले स्कूल को घर और स्कूल के आदर्शों मे सम्भावित सघर्ष, उनका दमन और उससे उत्पन्न बालक की आरक्षा की भावना पर अवश्य

ध्यान देना चाहिए । सुधार आवश्यक है और इस प्रकार की विषमताओ मे समता लाने का प्रयत्न करना चाहिए । यह कार्य मन्दगति से पर निश्चयात्मक रूप से होना चाहिए । कोई भी शीघ्रता का कदम, बालक को घर अथवा पाठशाला की स्थिति, और अधिकतर पाठशाला की स्थिति का विद्रोही बना देगा (क्योकि घर की सस्कृति बहुत छोटी अवस्था से ही बालक के मस्तिष्क को प्रभावित करती है) इस सम्भव्य आपत्ति की उपेक्षा नही करनी चाहिए ।

किशोरावस्था के अन्तिम काल मे अर्थात् दसवी कक्षा मे किशोर की शिक्षा-सम्बन्धी इच्छाओ और परिवार मे सघर्ष हो सकता है। लडका डाक्टर बनना चाहता है और जीव-विज्ञान मे रुचि रखता है, लेकिन माता-पिता उसे इजीनियर बनाना चाहते हैं और उसे गरिणत पढने को बाध्य करते हैं । इससे बालक के हृदय मे घृणा का उदय होता है और वह पढाई से ही घृणा करने लगता है । बालक परीक्षा मे असफल रहता है, और यह सब माता-पिता की अदूरदर्शिता के कारण होता है ।

सवेगात्मक सघर्ष आकाक्षा और प्राप्ति के अन्तर से भी उत्पन्न होते है । एक विद्यार्थी जिसकी अभिलाषाएँ बहुत ऊँची है, पर उतनी योग्यता नही है, वह भी पिछडा रहता है । वह कक्षा मे ऊँचा स्थान पाने की आशा करता है, पर जब वह देखता है कि अध्यापक ने उसे बहुत कम नम्बर दिए हैं, वह निराश हो जाता है । इस कठोर वास्तविकता से समायोजन न हो पाने की स्थिति उसमे दु खदायी सवेगात्मक भार उत्पन्न कर देती है । इस परिस्थिति को रोकने के लिए अध्यापक को अपने प्रोत्साहन के नियमो मे अन्तर कर देना चाहिए। अर्थात् प्राप्ति (Attainment) के स्थान पर उन्हे प्रयत्न के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए । कल्पना कीजिए कि एक बालक पहले २५% अक प्राप्त करता है । और दूसरी बार ४५% तो इस बालक को उस बालक से जो ६५% से ७५% या ७०% तक ही उन्नति करता है, अधिक प्रशसा देनी चाहिए ।

कक्षा मे बार-बार की असफलता परीक्षा के लिए एक स्तर बना देती

है। साधारणतः बालक मे नैराश्य-भावना जागृत होती है और उसकी आकाक्षा का स्तर नीचा हो जाता है। इस प्रकार बालक अपने प्रयत्न मे आत्म-विश्वास खो देता है। चाहे जो कुछ कहा जाए कि 'असफलता ही सफलता की सीढी है।' पर कुछ व्यतिक्रमो को छोडकर असफलता कभी किसी विद्यार्थी को उत्साह नही प्रदान करती। स्पष्ट रूप से एक बालक के उचित सवेगात्मक विकास के लिए विद्यालय की सबसे बडी देन यह होगी कि वह बालक की स्वाभाविक बुद्धि, व्यक्तित्व तथा बालक के सामाजिक और आर्थिक स्तर से प्राप्त सुविधाओ, बालक की आकाक्षाओ का वास्तविकता के मूल तथ्यो से समायोजन करने का प्रयत्न करे। बालको की उन्नति के मध्य मे यह एक ऐसी बाधा है, जिसे जीतने मे बालक कठिनाई का अनुभव करते हैं। यह कार्य एक बुद्धिमान शिक्षक व्यक्तिगत अनुशासन और उपदेश मे कर सकता है। पर इसमे सफलता पाने के लिए शिक्षक को विद्यार्थी का विश्वास प्राप्त करना चाहिए, जिसे वह उच्च ज्ञान, आदर्श चरित्र, न्याय की भावना, सरलता और सहानुभूति से प्राप्त कर सकता है।

नैराश्योत्पादक सवेग और शिक्षा में उनका महत्व

जीवन बहुत कम सदा आनन्द से व्यतीत होता है। अकसीर हम अपने उन्नति के मार्ग मे बाधा और रुकावट का अनुभव करते है। इन रुकावटो के प्रति हम जिस प्रकार से प्रतिक्रिया (React) करते है, उसी से हमारी सवेगात्मक अवस्था होती है। इस प्रकार हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शिक्षा की दृष्टि से हमारा इनसे बहुत सम्बन्ध है, क्योकि स्थिति की उचित समायोजना से हम बालक मे नैराश्य उत्पन्न करने वाले तथा विकास मे बाधा डालने वाले सवेगो के प्रभाव को कम कर सकते हैं।

क्रोध

नैराश्यजनक सवेगो मे क्रोध सम्भवतः सबसे अधिक साधारण है,

और इसका आरम्भ शैशवकाल के प्रारम्भ से ही हो जाता है। जब हम अनुभव करते हैं कि किसी की भूल से हम किसी वस्तु से वचित हो गए हैं, हम क्रुद्ध हो जाते हैं। तीव्रता की मात्रा के कारण इस साधारण अप्रसन्नता से उत्तेजनापूर्ण क्रोध के कई प्रकार देख सकते हैं। जब हम अनुभव करते हैं कि जो वास्तव मे हमे मिलना चाहिए, वह दूसरे पा रहे हैं, तब क्रोध ईर्ष्या का रूप धारण कर लेता है। चेहरा लाल हो जाता, हृदय की गति तीव्र हो जाना, आदि क्रोध के दिखाई देने वाले लक्षण हैं। जब हम थके या भूखे होते हैं तब क्रोध बढ जाता है। अधिकतर क्रोध केवल एक अकेली प्रतिकूल परिस्थिति का परिणाम नही होता है, वरन् अनेक क्रोध उत्पन्न करने वाली स्थितियो के प्रभाव का परिणाम भी होता है। उदाहरण के लिए व्यस्त मनुष्य से बराबर मूर्खतापूर्ण प्रश्न करते जाने पर एक समय वह क्रुद्ध हो उठता है। उपहास और निन्दा बालक को उसी प्रकार क्रुद्ध कर देते है जैसे जोर की मार। कभी-कभी क्रोध आन्तरिक उग्रता (Inward Aggression) का रूप धारण कर लेता है। एक क्रुद्ध बालक चिन्ताजनक रूप से बीमार पड जाने अथवा अपनी मृत्यु तक की इच्छा करता है, जिससे कि वह अपने पिता की मार का प्रतिशोध ले सके। कभी-कभी उपचेतना मे पडी हुई यह भावना उसकी भावनाओ को आघात पहुँचाने वाले पुरुष की असुविधा का कारण होती है, अथवा उसके भावो को चोट पहुँचाती है। कभी-कभी उग्रता की भावना स्थान-परिवर्तन कर देती है। माता-पिता से दण्ड-प्राप्त बालक उन्हे मार नही सकता है लेकिन वह अपने छोटे भाई अथवा गुडिया को मारता है और इस प्रकार अपनी आन्तरिक भावनाओ को प्रकट करता है। सम्भवत. इस कार्य के पीछे भी बालक के उपचेतन मे अप्रत्यक्ष रूप से अपने उग्र माता-पिता की भावनाओ को चोट पहुँचाने की भावना रहती है।

सम्भवतः इन नैराश्योत्पादक सवेगो (Frustrating emotions) रोकने का सबसे अच्छा उपाय परिस्थिति को ही रोकना है। यदि

अध्यापक निष्पक्ष है और माता-पिता भी इसी प्रकार के हैं, तो ईर्ष्या का कोई अवसर ही नही आएगा। दण्ड के समय बालक को यह अनुभव करना चाहिए कि उसे क्यो दण्ड दिया गया है। बालक का नैतिक आत्म (Moral Self) जिसे फ्रायड ने सर्वोत्कृष्ट आत्म (Super ego) कहा है, जिस समय दण्ड दिया जा रहा हो, अपने गुरुजनो की ओट होनी चाहिए। बालक को बहुत कम मारना चाहिए, यदि मार का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया जा सकता। क्योकि आलसी बालक को काम मे लगाने के लिए तिरस्कार इतना प्रभावशाली नही है, जितना कि बालक की पीठ पर उत्साहित करने के लिए थपथपाहट और प्रोत्साहन।

भय

कभी-कभी कार्य की बाधा प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देती है, और हम अपनी सुरक्षा के लिए भी भयभीत हो जाते हैं। भय अत्यन्त साधारण डर से आरम्भ होकर जड कर देने वाले भय तक जाता है। पर प्रत्येक परिस्थिति मे परिस्थिति का सामना करने मे सहायता की भावना ही भय का मूल कारण होती है। भय के प्रत्यक्ष लक्षण हाथ-पैर का काँपना (कभी-कभी दाँत कटकटाने के साथ), स्वेद और जीभ का सूख जाना है। भूख भी कम हो जाती है। एक बालक जो सदा भयभीत रहता है, अधिकाधिक असहायता का अनुभव करता है, तथा किसी भी कार्य को पूर्ण करने मे असमर्थ रहता है। हम देखेंगे कि अधिकाश भय बालक की शैशवावस्था मे ही उसके मस्तिष्क मे जड जमा लेते है। कुछ लोग छिपकली और मकडी-जैसे निर्दोष कीडो से डरते हैं। इसका कारण बडो के अविचारपूर्ण कार्य होते हैं। क्रोध की भाँति भय भी केवल एक स्थिति का परिणाम नही होता है। उदाहरण के लिए एक बालक जो नित्य पाठशाला मे मारा जाता है, अपने हृदय मे स्कूल के प्रति भय का विकास कर लेगा।

यदि शिक्षक सावधान रहे, तो सम्भवतः बहुत बड़े परिमाण में

बालको की सवेगात्मक ग्रन्थियो का उपचार कर सकते हैं। यदि अध्यापक धैर्य और दृढता के साथ अपने कार्य मे लगे रहेगे तो ऐसे अनेको भय जो बालक के मस्तिष्क मे जड जमाए हैं, इसके पश्चात् मूर्खतापूर्ण प्रतीत होगे और बालक उन्हे जीतने का प्रयत्न करेगा। धीरे-धीरे जड कर देनेवाली असहायता की भावना का स्थान आत्मविश्वास ले लेगा। लेकिन तभी जब प्रत्येक भग्नाशा की स्थिति मे अध्यापक विश्वास को उत्तेजित करने मे समर्थ होगे। लेकिन अफसोस ! उपचार के प्रयत्न के स्थान पर अधिकतर हम परीक्षा मे असफलता, अपमान, तिरस्कार और कभी-कभी उपेक्षा द्वारा भग्नाशा के अवसरो को उपस्थित करके परिस्थिति को और विषम बना देते है। स्वभावत. ये बालक के व्यक्तित्व पर अपने अमिट चिन्ह छोड देते है, और स्वस्थ व्यक्तियो को निर्माण करने के स्थान पर हम भीरु, पराधीन व्यक्तियो को उत्पन करते हैं, जो कि अपने पैरो पर खडे होने मे भी असमर्थ होते है, और अपने आगामी जीवन मे किसी भी आपत्ति को सहन करने मे सर्वथा अयोग्य रहते हैं।

पलायन और मिथ्या समाधान Escape and psendo Solution

कुछ लोग यह दिखलाते हुए कि भय नही है, भय के टालने का प्रयत्न करते है। कुछ लोग बिना वास्तविकता का सामना करने का साहस दिखलाए, भागने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्तियो की उपमा खरगोश से दी जा सकती है जो झट अपनी आँख बन्द कर लेता है और आने वाले खतरे को देखता ही नही, या हिरण के बच्चे के समान ज़रा-सी आवाज होते ही भाग जाता है। यदि बालक पाठशाला को कष्टदायक पाता है, वह बल मे व्यस्त हो जाता है। अधिकतर उसका यह पलायन, वास्तविक ससार की असमर्थता को स्वप्नो और कल्पना के ससार मे पूरा करने का प्रयत्न करने वाले किशोर की भाँति कल्पना मे होता है। एक बालक जो पर्याप्त शक्तिशाली और दृढ नही है, अवास्तव कल्पना (Day Dreaming) को एक

ऐसी स्थिति के रूप मे पाता है जिसमे पडने से वह अपने को रोक नही सकता। भग्नाशा के परिणामस्वरूप चाहे वह घर मे हो अथवा स्कूल मे, वह वास्तविकता का सामना करने तथा निराशा के मूल कारणो को हटाने के स्थान पर, अपनी तरगो की दुनिया मे रहने का प्रयत्न करता है। ऐसे व्यक्ति जब बडे होते हैं कभी भी वास्तविकता का सामना करने योग्य नही हो पाते जब तक वे स्वय अपनी इस आदत को सुधारने का प्रयत्न न करे।

अनावश्यक क्षतिपूर्ति (Cover Compensation)

कुछ व्यक्ति भिन्न प्रकार से ही अपनी नैराश्यपूर्ण स्थिति के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। हृदय से अपनी असमर्थता और सीमा के प्रति सचेत होते हुए भी वे निश्चितता का प्रदर्शन करते हैं, और कभी-कभी अपनी प्रशसा भी करते हैं। इस अहकार और उग्रता-प्रदर्शन से वे अपनी असमर्थता और वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार की सवेगात्मक अव्यवस्था भी सुधार की अपेक्षा करती है। अन्यथा यह कक्षा मे अनुचित सघर्ष उत्पन्न करती है, तथा अनुचित रूप से अहकारी व्यक्तित्व का विकास होता है। एक बुद्धिमान शिक्षक व्यक्तिगत् रूप से उपदेश देकर तथा उसे यह समझाकर कि अहकार कितना बुरा है, और किस प्रकार समाज-स्वीकृत मार्ग पर चलकर वह वास्तविक श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है, बालक का सुधार कर सकता है।

शक्तिदायक संवेग (Restoring emotions)

आनन्द (Pleasure) आनन्द की भावना हमे अ·क भग्नाशाजनक स्थितियो से मुक्त कर पुन शक्ति प्रदान कर आगे बढने के लिये प्रोत्साहित करता है। किसी भी कार्य से प्राप्त सन्तोष हमें आगे बढने और नई बाधाओ को पार करने मे शक्तिवर्धक

श्रौषधि का कार्य करता है। इसी प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी हमे पारितोषिक अथवा पुरस्कार का प्रलोभन दिया जाता है। वास्तव मे यह बालको मे स्पर्धा की भावना जागृत करता है। प्रसन्नता का उदगम् कार्य से हट जाता है, और एक वाह्य वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। कभी-कभी इसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है, और येन-केन-प्रकारेण पुरस्कार प्राप्त करना ही बालक के प्रोत्साहन का केन्द्र बन जाता है। वास्तव मे उत्तेजना का उद्गम स्वय क्रिया होनी चाहिए, और वस्तु-प्राप्ति का प्रयत्न ही वास्तव मे आनन्ददायक होना चाहिए। कार्य की सफलता कार्य के आत्मविश्वास को दृढता प्रदान करती है। अत व्यक्ति को दिया हुआ कार्य उसकी शक्ति के अन्दर होना चाहिए। अगर हम अध्यापक की हैसियत से विद्यार्थी को ऐसा कार्य दे सके जिसकी उपयोगिता प्रत्यक्ष हो और उसकी कार्य-शक्ति के अन्दर हो, तो हम उन्हे वास्तविक आनन्द का सुअवसर प्रदान कर सकेंगे और केवल यही स्कूल के कार्य को योग्य, आनन्दप्रद और उत्तेजना प्रदान करने वाला बना सकेगा।

परिहास

बौद्धिक परिहास ही जीवन का रस है। परिहास हमे अनेक भग्नाशाजनक परिस्थितियो से मुक्ति प्रदान करता है। चट नए आक्रमण के लिए सदा हमारी-शक्ति अखण्ड रखता है। आरम्भ से ही बालक मे इस सवेग का अवश्य पोषण करना चाहिए। यह बिलकुल गलत धारणा है कि यदि अध्यापक बालको के सम्मुख परिहास-भावना का प्रदर्शन करता है, तो वह अपने सम्मान को खो देता है। उसे मजाकिया और मसखरा नही होना चाहिए, लेकिन उचित स्थान पर उचित और सभ्य रीति से किया गया परिहास बालको के मध्य अध्यापक के सम्मान को बढा देता है, साथ ही आने वाली कठिनाइयो का सामना करने के लिए बालको को अवसर प्रदान करता है।

प्रेम और सहानुभूति (Affection and Sympathy)

सम्भवत अध्यापक के सब शक्तिदायक सवेगो मे बालक अधिक जिसकी ओर ध्यान देता है वह प्यार है। बालक पाठशाला मे भग्न और नैराश्यपूर्ण भावनाओ के साथ प्रवेश करता है। वह अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने घर से हटाया जाकर अपरिचित वातावरण मे रख दिया जाता है। उसे एक ऐसे सहानुभूतिपूर्ण अध्यापक की आवश्यकता होती है, जो उसे पूर्वस्थिति मे लाकर एक-दूसरे घर के समान सुरक्षा-भाव प्रदान कर सके। हो सकता है कि घर की परिस्थिति दु खदायी हो, उसका पिता निर्दयी हो अथवा माँ सौतेली हो जो उसे प्यार न करती हो। सम्भवतः घर के स्थायी झगडे उसे सुरक्षा-भाव का अनुभव करने को बाध्य कर सकते है। यह अध्यापक की सहानुभूति और उसका प्यार ही है जो उसे आवश्यक शरण और सुरक्षा, जिससे वह अपने घर मे वचित है, प्रदान कर सकेगा और उसे अपने व्यक्तित्व का उचित मार्गों से विकास करने मे सहायक हो सकेगा। हो सकता है कि उसकी कक्षा के साथी उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार न करते हो। उसकी शारीरिक अयोग्यता और भद्देपन को दया-भाव और सहानुभूति से न देखकर उसका मज़ाक बनाने मे आनन्द लेते हो। यह उसके लिए पाठशाला को नर्क बना देता है और उसे कक्षा से भागने की ओर आकर्षित करता है। यह अध्यापक का प्रेम और उसकी सहानुभूति ही है जो उसे इनसे अलग होने मे सहायता करती है।

प्यार का अभाव ही भद्दे और उपेक्षित बालको को आवारा बना देता है और सहानुभूति का अभाव ही भग्न घरो के बालको को पागल कर देता है। छात्रावास और अनाथालय मे पले हुए बच्चे कभी-कभी कठोर हृदय और आत्म-केन्द्रित होते हैं। इस त्रुटि का कारण यह है कि अपने पालन-पोषण मे वे जीवन-शक्ति प्रदान करने वाली महा-औषधि से वचित रहे। जिस प्रकार कभी-कभी फसल बढने के लिए मूसलाधार वर्षा

से मन्द-मन्द वर्षा अधिक लाभदायक होती है, उसी प्रकार बालक को आवश्यकता से अधिक प्यार नही दिखलाना चाहिए, वरन् बालक के प्रति प्यार का प्रदर्शन धीरे-धीरे होना चाहिए।

अध्यापक और माता-पिता का प्रेम, यदि बुद्धिमानीपूर्वक बालक को दिया जाए, तो बालक के साधारण विकास मे सहायक होगा। इस प्रकार बालक का कुछ समय बाद, उन बालको से जिनका पोषण कठोरता के साथ होता है, अधिक शिष्ट बना सकेंगे।

आदत का विकास

बच्चों को भयभीत न करे

भय मन का वह सवेग है, जो आत्मरक्षा की भावना को प्रोत्साहित करता है। किसी प्रकार के अनिष्ट की आशका भय का सचार करती ह। भय उत्पन्न होते ही, व्यक्ति मे भयदायक वस्तु, मनुष्य या स्थान से, दूर भाग जाने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। उसकी चेष्टाएँ सशक हो उठती है और वह असाधारण कार्यों की ओर भी अग्रसर हो जाता है। त्राण पाने के लिए वह ऐसे असाधारण एव साहस के कार्यों को कर सकता था। वस्तुत· भय की अवस्था मे मन वलशाली हो जाता है और इस प्रकार शरीर में एक अतिरिक्त शक्ति का अनुभव होता है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार भयभीत स्थिति मे शरीर की एक विशेष ग्रन्थि से, एक प्रकार का पदार्थ निकलता है। वह पदार्थ धमनियो द्वारा समस्त रक्त मे प्रवाहित होने लगता है। रक्त मे इस पदार्थ के सयोग का प्रभाव यह पडता है कि उसमें एक प्रकार की अतिरिक्त तथा अस्थायी शक्ति आ जाती है। यही कारण है कि व्यक्ति भय की अवस्था मे, साहसिक एव कठोर कार्यों को भी आनन-फानन मे कर डालता है। प्राय दस्यु एव डाकुओ के कठोर कार्य तथा उनके अदम्य उत्साह का उद्गम भय ही होता है। घर मे घुसा हुआ चोर, पकडे जाने के भय से, ऊँची दीवाल भी फाँद जाता है। अपनी इस सफलता से उसे साहस एव शक्ति मिलती है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह भयकर कार्यों को करता हुआ समाज का सिर-दर्द वन जाता है।

भय के द्वारा पारस्परिक सहयोग की भावना को भी प्रोत्साहन मिलता है। कई भयभीत व्यक्ति बिना किसी प्रयत्न के ही आत्मरक्षा के लिए संयुक्त मोर्चा बना लेते हैं। यद्यपि यह सहयोग अस्थायी होता है किन्तु सहयोग की ओर अग्रसर होने मे, इससे पर्याप्त बल मिलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक सहयोग मे भय की स्थिति अनिवार्य है। बिना भय के सहयोगी भावना का उदय होना ही असम्भव है। तुलसी का "भय बिनु होय न प्रीति" सिद्धान्त बडा वैज्ञानिक है। भक्तो द्वारा इष्ट-देव के शक्तिशाली स्वरूप का चित्रण इसी भावना पर आधारित है। वेद-कालीन अनेक प्रार्थनाओ मे भय की प्रेरणा स्पष्ट लक्षित होती है। यही नहीं,पशुओ, पक्षियो तथा हिंसक एव विषैले जन्तुओ पर भी भय का गहरा प्रभाव पडता है। भय की स्थिति मे हिंसक जन्तु, थोडी देर के लिए अपनी जन्मजात प्रवृत्ति का भी त्याग कर देता है। मनुष्यो की तरह पारस्परिक सहयोग की भावना पर आत्मरक्षा का प्रयत्न इनमे भी पाया जाता है। वस्तुत व्यावहारिक दृष्टि से भय बडा उपयोगी होता है। समाज एव राष्ट्र की व्यवस्था व्यक्तियो मे स्थित भय-भावना का ही फल है। बीसवीं सदी के सभ्य ससार मे भी शासको द्वारा दण्ड की व्यवस्था इसी ओर सकेत करती है। इस प्रकार सामान्य भय की स्थिति बडी ही उपयोगी तथा ग्राह्य होती है। किन्तु इसके साथ जहाँ अविवेक और भ्रम का सम्मिश्रण हो जाता है, वहाँ यह बडा घातक हो जाता है। कौनसा भय हानिप्रद होता है और कौन-सा उपयोगी, इसका विवेचन बडा ही कठिन है। व्यक्ति के जीवन मे उसके अनुभवो, वातावरण तथा उसकी अपनी शारीरिक एव मानसिक स्थिति के कारण ऐसे अगणित भयो का ढेर जमा हो जाता है जिसका अलग-अलग विश्लेषण समुद्र के जल-बिन्दुओ की गणना की भाँति है। सामान्यत. स्थूल दृष्टि से ही शासन के भय के अतिरिक्त ईश्वर का भय, समाज का भय, गुरुजनो का भय इत्यादि असख्य भयो से आक्रान्त मानव वस्तुत. अपनी प्रत्येक स्थिति मे भय का अनुभव करता है।

इन अनेक वास्तविक तथा काल्पनिक भयो से आक्रान्त होकर ही समाज व्यक्ति मे भय की स्थिति आवश्यक मानता है। नृशस, परम स्वतन्त्र तथा निश्शक व्यक्ति अनेक समाज-विरोधी कार्यों को करने लगता है। ऐसे व्यक्ति की स्थिति समाज नही सहन करता। मनोवैज्ञानिक विश्व के अनेक कार्यों मे भय की प्रेरणा देखता है। यही कारण है कि भय की स्थिति समाज मे इतनी स्थायी होती गई है। इसलिए बालको को भय से बचाने की नही, बल्कि उसे पूर्णत आक्रान्त करने की भावना अशिक्षित अभिभावको एव अयोग्य शिक्षको मे अधिक होती है। बालक की स्वाभाविक विध्वसात्मक एव चचल प्रकृति को रोकने का भय एकमात्र साधन माना जाता है। कुछ लोगो का यह तर्क भी है कि भय के कारण मानव-समाज मे ही नही, बल्कि पशु-पक्षियो तक मे रचनात्मक प्रवृत्ति का उदय होता है। वस्तुत यह ठीक भी है। स्थल पर रहने वाले छोटे-छोटे जन्तुओ द्वारा विचित्र बिलों (सुराखो) का निर्माण अनेक भय-सत्रस्त, उनकी आत्मरक्षार्थ-भावना का ही परिचायक है। बया नामक पक्षी के घोसला बनाने की कला मानव को भी चकित कर देती है। यही नही मानव-सम्पादित ससार का उच्च-से-उच्च शिल्प-स्थापत्य एव इसी प्रकार की अन्य कलाओ का विकास भय-प्रेरित ही है।

अभी तक जिन लोकोपकारी एव निर्माणकारी भयो की चर्चा की गई है, वस्तुत वे व्यापक भय हैं। इन व्यापक भयो के प्रभाव मे बालक को रखना हितकारी होता है। वस्तुत ऐसे भय बालक के मन पर, वातावरण, निरीक्षण एव अनुभव के द्वारा स्वत अकित हो जाते है। शुरू मे बच्चा केवल दो ही बातो से डरता है, ऊँची आवाज तथा गिरने की आशका से। धीरे-धीरे वह जैसे ही सासारिक जीवन मे प्रवेश करने लगता है, अनेक भय प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसके मन को प्रभावित करने लगते हैं। इन्ही भयो से बच्चे को सुरक्षित रखना अभिभावको का कर्त्तव्य है। यह सच है कि अनेक ऊल-जुलूल एव हानिप्रद भयो की उत्पत्ति

मे अभिभावक स्वय कारण बनते हैं। इस प्रकार बालक के मन पर अनेक ऐसे सकीर्ण तथा व्यक्तिगत भयो की छाप पड़ जाती है जिनका बालक के विकास पर बडा कुप्रभाव पडता है। सकीर्ण, वैयक्तिक तथा ऐसे हानिकारक भयो की सख्या भी अपार ही है। यह भारत का अभाग्य है कि इसके शत-प्रतिशत बच्चे, ऐसे वातावरण तथा स्थिति मे पलते हैं कि उनके मन पर इन हानिप्रद भयो की स्थिति बडी दुरूह हो जाती है। बात यह है कि बाल्यावस्था मे पडे भय का प्रभाव अव्यक्त मन मे टिक जाता है, जो आगे चलकर उसको अनेक प्रकार से प्रमाणित करता है। बचपन मे माता-पिता द्वारा आतकित व्यक्ति दब्बू बन जाता है और वह किसी भी स्थिति मे अपने को नि.शंक नही कर पाता। अयोग्य शिक्षको द्वारा बुरी तरह धमकाया हुआ बालक काहिल तथा कायर हो जाता है। इस प्रकार समाज की दृष्टि मे दब्बू, काहिल तथा कायर बनकर भी वह अप्रत्यक्ष रूप मे बडा नृशस, उद्दण्ड तथा दु.साहसी हो जाता है। उसकी विकासात्मक प्रवृत्ति समाजोपयोगी न होकर अन्तर्मुखी एव समाज-विरोधी हो जाती है। किसी भी ऐसे दुश्चरित्र व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन बडा दुरूह और साथ ही बड़ा मनोरजक होता है। बचपन मे कुछ व्यक्तियो पर पडे वैयक्तिक भय बड़े होने पर दूर हो जाते है। अधिकांश व्यक्ति प्राय. ऐसे ही भयो से आक्रान्त रहते हैं। कोई चुहिया देखकर कोसो दूर भागता है तो कोई शेर का भी शिकार करने मे आनन्द प्राप्त करता है। आश्चर्य तो तब होता है, जब हम एक व्यक्ति मे दो परस्पर-विरोधी भावो को देखते हैं। रणक्षेत्र मे सैकडो वीरो को मार भगाने वाला व्यक्ति भी बिल्ली देखकर बेहोश हो जाता है। प्रौढावस्था मे ऐसे आश्चर्यजनक भयो की उत्पत्ति, व्यक्ति के बाल्यकाल के अनुभव हैं। प्रौढावस्था मे जो भय व्यक्ति के मन पर प्रभाव डालते हैं, वे प्रायः विवेकपूर्ण होने के कारण वास्तविक तथा उचित होते है। इन भयो से व्यक्ति का प्रायः उपकार ही होता है। उपकार न भी हो तो भी इनमे ऐसे किसी अनर्थ की आशका नही रहती है, जैसी आशंका बचपन के समय अकित भयो से हो सकती है।

इन विचारो के प्रकाश मे यह स्पष्ट हो जाता है कि भय के वस्तुतः दो पहलू हैं। पहला वास्तविक, उचित तथा लाभप्रद है और दूसरा अवास्तविक, अनुचित तथा हानिप्रद है। पहले प्रकार का भय मनुष्य के जीवन के अनेक भागो मे उसे प्रभावित कर उसके विकास को समाजोपयोगी और आकर्षक बनाता है और, दूसरे प्रकार का भय व्यक्ति के बचपन मे, अविभावको एव वातावरण द्वारा उसके बालमन को सदा के लिए आतकित कर देता है। बचपन मे पडे भय का प्रभाव कभी-कभी विकृत होकर अन्यत्र प्रभाव दिखलाने लगता है। 'हौआ' से डराया हुआ बालक बडा होकर किसी अन्य ऐसे जीव या व्यक्ति से डरने लगता है, जिससे न डरना चाहिए। अन्य कारण से उत्पन्न भय अन्यथा आरोपित होकर बडा दु खदायी हो जाता है और चूंकि ऐसे भय का सम्बन्ध अव्यक्त मन से रहता है, अतः उसका दूर होना कठिन हो जाता है। भयो की यह स्थिति कभी-कभी वडी भयकर हो जाती है। व्यक्ति इससे इतना परेशान हो जाता है कि उसका जीवन ही भयप्रद हो जाता है। अव्यक्त मन मे छिपे किसी भय के कारण व्यक्ति कभी-कभी अपने-आप मे ही डरने लगता है। एक बात और है, भय की अधिकता भी वडी हानिप्रद है। जहाँ एक ओर साधारण भय शक्ति और साहस की वृद्धि करता है, वही दूसरी ओर उत्पन्न उग्र भय बलहीन बनाकर किंकर्त्तव्य विमूढ तथा विक्षिप्त कर देता है। इस प्रकार भय की स्थिति मनुष्य के जीवन मे एक समस्या है। उसका रहना भी हानिकारक और न रहना भी चिन्ता का विषय है। ऐसी स्थिति मे बालक को अनर्थकारी तथा अनुचित भयो से सुरक्षित रखना वडा कठिन कार्य है। जिन अभिभावको एव शिक्षको को मनोविज्ञान की समुचित शिक्षा नही मिली रहती, उनसे ऐसा होना असम्भव ही है। इसीलिए कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिको का मत है कि जब तक बालक की विचार-शक्ति प्रौढ होकर स्वय इन बात का निर्णय करने मे समर्थ नही होती कि किससे डरना चाहिए, किससे नहीं, तब तक उसके मन पर किसी भी प्रकार के भय की छाप

नही पडनी चाहिए ।

बालक ज्यो-ज्यो बडा होगा स्वय ही शिक्षा एव स्वस्थ वातावरण के प्रभाव से तथा अपनी विचार-शक्तिसे वह समुचित भयों से अप्रभावित हो जाएगा। ऐसा होने पर उसका अव्यक्त मन भय से विलकुल अछूता रहने के कारण अनर्थकारी न होगा। कभी-कभी प्रौढावस्था मे भी अव्यक्त मन पर भय का प्रभाव हो जाता है। किन्तु ऐसे अवसर वहुत कम आते है। प्रौढावस्था मे प्रौढ, व्यक्त मन की स्मृतियाँ वडी सजग रहती हैं। अत. अव्यक्त मन को भय ग्रहण करने का वहुत कम अवसर मिलता है। दूसरे यदि किसी विशेष कारण से इस अवस्था मे अव्यक्त मन भय से प्रभावित हो भी जाए तो उसकी समुचित चिकित्सा की जा सकती है। किन्तु वाल्यावस्था मे प्रभावित अव्यक्त मन से भय को दूर करना बडा कठिन हो जाता है। इसलिए उचित यही है कि वच्चो को हर तरह से भय से बचाया जाए। उन्हे किसी भी प्रकार से आतकित करना श्रेयस्कर नही होता। प्राय देखा जाता है कि बालक की किसी मामूली-सी हरकत को बन्द करने के लिए अभिभावक उसे बुरी तरह भयभीत कर देते हैं। कभी अपना उग्र रूप दिखाकर वालक को आतकित करने की चेष्टा की जाती है और अज्ञात भय जैसे हौआ, जूजू इत्यादि से उसे डराया जाता है। यद्यपि इस प्रकार वालक की वह हरकत तो वन्द हो जाती है, परन्तु इन प्रदर्शित भयो का बालक के भावी जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। वचपन मे माता-पिता द्वारा कल्पित हौआ बालक के जीवन मे सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। वालक की मानसिक अवस्था का ज्ञान न होने के कारण ही अभिभावको से ऐसा होता है।

बालक के कार्यों मे विधि-निषेध का समावेश करने के लिए ही अभिभावक उसे डराते-फटकारते है। यह कार्य उसे न करना चाहिए और यह कार्य उसे करना चाहिए। इसी भावना से प्रेरित होकर, अभि-भावक बालक की हित-चिन्ता से उसे अनुचित कार्यों से विरत करने के लिए

भयभीत करते हैं। प्रत्यक्षत. अभिभावकों के इस उद्देश्य की साधारणत. सिद्धि तो हो जाती है, किन्तु उससे वास्तविक लाभ कुछ भी नही होता, उलटे इसका वडा कुप्रभाव पडता है। बालको को किसी कार्य से विरत करने तथा किसी कार्य मे लगाने के लिए भय का आश्रय नही लेना चाहिए। यदि हम इस पर तनिक भी ध्यान दे और बालक की रुचि का अध्ययन कर उसे प्रेरित करने की चेष्टा करें तो अधिक सफलता मिल सकती है। भय के विना भी हम वालक को कुपथ से वचाकर सन्मार्ग पर ले जा सकते है। किसी कार्य मे बालक के प्रवृत्त होने का कारण उस ओर उसकी रुचि ही है। यदि हम उसे किसी कार्य से अलग करना चाहते हैं, तो वालक के सामने उससे भी रुचिकर कार्य प्रस्तुत कर ऐसा कर सकते हैं। यद्यपि यहाँ वालक की रुचि का अध्ययन कुछ प्रयत्न-साध्य अवश्य है, किन्तु यदि हम उसे अपना कर्त्तव्य समझकर तनिक ध्यान दें तो विशेष कठिनाई न होगी। अच्छे कार्यों की ओर वालक की रुचि वढाने के लिए उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा करनी चाहिए। बालक आत्मश्लाघा की भावना से जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना भय या उपदेश से नही। इस प्रकार बिना भय-प्रदर्शन के ही हम वालक को इच्छित पथ पर ले जा सकते हैं। ऐसा वालक आगे चलकर चरित्रवान तथा उच्च व्यक्तित्व सम्पन्न होता है। वह हौआ मे नही अपितु कुपथ से डरता है। किसी अदृश्य भय-भावना से नही अपितु उच्चादर्शो से अभिभूत रहता है।

वालक को इच्छित पथ पर ले जाने का एक ढग और होता है। वच्चो की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वे अपने स्नेहदाता के वड़े कृतज्ञ होते हैं। यदि आप उनसे वास्तविक स्नेह करते हैं, तो निश्चय ही वे अपकी इच्छाओ के विरुद्ध नही जा सकते। इस प्रकार प्रशसा, स्नेह एवं धैर्य के साथ यदि वालक को उचित दिशा की ओर ले जाएँ तो भय-प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नही पड़ेगी। इससे वालक अनुचित तथा हानिकर भय-भावना से वचकर स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित होगा।

बच्चों में विश्वास का विकास

विश्वास एक ऐसा भाव है, जो प्राय· विकसित प्राणियो मे पाया जाता है। जहाँ तक प्राणीवर्ग का एक-दूसरे से सम्पर्क होता है विश्वास ही उसका आधार होता है। मानव परस्पर एक-दूसरे का किसी-न-किसी रूप मे विश्वास तो करता ही है, पशुओ मे भी वह विश्वास करता है तथा पशु मानव का भी विश्वास करते हैं। यही नही यदि यह कहा जाए कि सृष्टि का सचालन बहुत-कुछ विश्वास के आधार पर हो रहा है, तो अनुचित न होगा। बडे-बडे हिंसक जन्तु भी विश्वस्त होकर अन्य प्राणियो तथा मानव के साथ निर्भीक भाव से रहते है। व्यवहार मे यदि हम विश्वास को खोजने लगते हैं तो पग-पग पर उसका अस्तित्व हमे मिलता है। बल्कि मानव का प्रत्येक व्यवहार विश्वास की ही भावना पर टिका हुआ मिलता है और वह उसी के द्वारा सचालित होता है। समाज मे एकता, शान्ति तथा पारस्परिक सहानुभूति विश्वास की ही भावना पर आधारित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वास-जैसे भाव की उपयोगिता समाज के लिए बडी महत्वपूर्ण है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति मे विश्वास की भावना किसी-न-किसी रूप मे वर्तमान रहती है, तथापि प्रत्येक व्यक्ति मे इसकी मात्रा अलग-अलग होती है। कोई सहज ही मे दूसरो पर विश्वास कर लेता है तो कोई हृदय निकालकर सामने रख देने पर भी सन्देह की दृष्टि को नही छोडता। ये दोनो ही स्थितियाँ उचित नही होती। पहला व्यक्ति सहज विश्वासी होने के कारण खलो के जाल मे फँस सकता है तो दूसरा लोगों की घृणा का पात्र बनता है। विश्वास की भावना व्यक्ति की अर्जित भावना है। इसलिए इसका बहुत-कुछ सम्बन्ध व्यक्ति की बाल्यावस्था के वातावरण या उस समय की अन्य परिस्थितियो से रहता है। वस्तुतः विश्वास की भावना मूलत सभी मे एक प्रकार ही होती है किन्तु परिस्थितियो तथा अनेक उचित, अनुचित प्रसगो एव अन्य किन्ही कारणों से उसका विकास प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है।

बच्चा प्रारम्भ मे बडा अविश्वासी होता है। वह किसी की भी बात को यों ही मानने के लिए तैयार नही होता। यद्यपि मूलरूप मे उसके भीतर विश्वास की भावना वर्तमान रहती है, तथापि वह ऐसा करता है। इसका एक कारण है, जोकि स्वाभाविक है। हम लोग ही यदि किसी बिलकुल अपरिचित स्थान पर जाएँ तो तब तक किसी व्यक्ति पर विश्वास नही कर सकते, जब तक उसे अच्छी तरह से समझ न लें। वस्तुत विश्वास का एक मूल आधार होता है। हम जिस सम्बन्ध मे जितनी अधिक जानकारी प्राप्त करते हैं, उस सम्बन्ध मे उसके अनुसार ही विश्वास करते हैं। किसी अनजानी वस्तु या अनजाने व्यक्ति पर विश्वास नही किया जा सकता। इसलिए विश्वास का आधार तत्सम्बन्धी-ज्ञान तथा व्यवहार द्वारा प्राप्त अनुभव है। किसी व्यक्ति की यदि दो-एक बार परीक्षा कर लेते हैं, और यदि वह खरा उतरता है तो हमारा विश्वास उस पर टिक जाता है। तो विश्वास के सम्बन्ध मे पहली आवश्यकता पडती है जानकारी की और दूसरी अनुभव की। बच्चा इन दोनो मे ही प्राय अपूर्ण होता है। उसे किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना की न तो उतनी जानकारी ही रहती है और न अनुभव ही। अविश्वास की यह भावना बच्चे मे बडे व्यापक पैमाने पर होती है। केवल व्यक्तियो तथा घटनाओ तक ही नही, किसी भी प्रकार के सहज ज्ञान को वह सहज ही मे विश्वासपूर्वक स्वीकार नही करता। फल यह होता है कि उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त नही होती। यही कारण है कि वह किसी भी सम्बन्ध मे कुछ जानकारी प्राप्त कर लेने पर पुन उसे आज़माता है और जब प्रभूत प्रमाण उसे मिलते है, तभी उसके प्रति विश्वास जमाता है। इस प्रकार उसकी अविश्वास की भावना ज्ञान-क्षेत्र मे बडी उपयोगी सिद्ध होती है। इसी के सहारे वह वस्तु के तत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। बाहरी पदार्थों को आप छोड दें, उनपर बच्चा अविश्वास तो करता ही है वह अपनी इन्द्रियो पर भी सहसा विश्वास नही करता। किसी खिलौने को देखकर ही वह सन्तोष नही करता। उसे उठाकर उसका स्पर्श करता

है, मुंह मे डालता है। सब प्रकार से जाँच कर लेने के बाद उसे विध्वस करके उसकी स्थिति के सम्बन्ध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। कहना न होगा कि क्रियाएँ बालक की ज्ञान-वृद्धि मे बड़ी सहायक होती है और यह सब उसकी अविश्वास की भावना का ही परिणाम है। धीरे-धीरे जैसे ही बच्चे की जानकारी तथा अनुभव मे वृद्धि होने लगती है, उसका विश्वास बढने लगता है। प्रथमतः वह अपनी इन्द्रियो पर विश्वस्त होता है। अनेक वस्तुओ को वह केवल देखकर ही वस्तुस्थिति के सम्बन्ध मे विश्वस्त हो जाता है। अनुभव के आधार पर बढ करके अनेक लोगो पर भी विश्वास करने लगता है। यद्यपि प्रत्येक सदस्य के प्रति उसका विश्वास भिन्न प्रकार का होता है फिर भी किसी-न-किसी रूप मे वह परिवार के सभी सदस्यो पर विश्वास करने लगता है। इस अवस्था तक वह घर के बाहर वालो पर बिलकुल विश्वास नही करता। इसीलिए वह ऐसे लोगो के समीप जाने मे हिचकिचाहट का अनुभव करता है। किसी-किसी बच्चे मे विश्वास की मात्रा शीघ्र बढती है तथा किसी मे उसका विकास धीरे-धीरे होता है। इसके दो कारण होते हैं। अनुभव और जानकारी मे वृद्धि होने पर विश्वास का विकास तेजी से बढता है और कभी-कभी बच्चे का स्वभाव ही सहज विश्वासी हो जाता है। पहली स्थिति तो ठीक है, किन्तु दूसरी स्थिति उचित नही होती। सहज ही मे विश्वास कर लेने की प्रवृति से व्यक्ति का जीवन भय से खाली नही रहता। व्यवहार मे व्यक्ति को अनेक स्वभाव वाले व्यक्तियो के सम्पर्क मे आना पडता है। इनमे से कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो किसी का विश्वास प्राप्त कर उसे हानि पहुँचाने की भी चेष्टा करते हैं। सहज ही विश्वास करने वाला व्यक्ति समाज के ऐसे शत्रुओ से ठगा जाता है। इसलिए बच्चे मे जैसे ही इस प्रकृति का उदय हो उसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु यहाँ एक अत्यन्त सावाधानी की आवश्यकता पडती है। ऐसा न हो कि उसकी सहज विश्वास वाली प्रवृत्ति को रोकने मे उसकी विश्वास-भावना को गहरी ठेस पहुँच जाए। ऐसा होने पर वह

प्रकृति और भी बुरी स्थिति मे पहुँच जाती है।

अर्थात् वह बच्चा सदिग्ध प्रकृति का हो जाता है। ऐतिहासिक मुगल-सम्राट औरगजेब इसी कोटि का व्यक्ति था। वह किसी पर विश्वास नही करता था। ऐसे व्यक्ति की मानसिक स्थिति बडी अशान्त रहती है। उसे एक मिनट भी शान्ति नही मिलती। अनेक सन्देहो के बीच उसका मन पिसा-सा जाता है। कभी-कभी यह अवस्था और विकृत हो जाती है। फलत व्यक्ति अपने-आप पर अविश्वास करने लगता है और अन्ततः उसका जीवन पागलपन के रूप मे वदलकर नष्ट हो जाता है। इस लिए अविभावको को बच्चे की यह स्थिति रोकनी चाहिए। चाहिए यह कि हम उन कारणो को ही न उपस्थित होने दे जिससे बच्चा सहज ही विश्वास करने की प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो।

जो वच्चा ऐसे विश्वस्त वातावरण मे पलता है, जहाँ उसे अविश्वास या सन्देह करने का अवसर ही नही मिलता, जिस वच्चे को सर्वत्र विश्वास ही मिलता है वह स्वभावत सहज विश्वास करने वाला वन जाता है। हमारे इस कथन का तात्पर्य कदापि यह नही है कि आप वच्चे के समक्ष सदिग्ध वातावरण उपस्थित करे। ऐसा करना तो उसके लिए और भी हानिकारक होगा। किन्तु यदि वच्चे के समक्ष स्पष्ट वातावरण तथा उपस्थिति का पूरा व्यौरा आता रहे तो वह विशेष रूप से उसको ग्रहण करता है। कहने का तात्पर्य यह कि उसका अनुभव कुछ ऐसा हो, जो सभी तथ्यो की जानकारी प्राप्त करावे। एक पक्षीय अनुभव वच्चे को धोखा दे सकता है। यदि वच्चे को सच वोलने की शिक्षा दी जाए तो भूठ के सम्वन्ध मे भी उसे कुछ जानकारी मिलनी आवश्यक है। अर्थात् जहाँ उसके विश्वास की भावना को प्रोत्साहन मिलना चाहिए वही उसे अविश्वास से विलकुल अछूता नही रखना चाहिए। उसे ऐसा कुछ वातावरण मिलना चाहिए जिससे वह अपने अन्दर विश्वास की भावना को तो दृढ करे साथ-ही-साथ अविश्वास के सम्बन्ध मे भी जानकारी प्राप्त करे। यदि विश्वास और अविश्वास दोनो

मे रमने का अवसर मिलता रहेगा तो वह धीरे-धीरे उन अनुभवो के आधार पर वह स्वय जान लेगा कि कहाँ तक विश्वास करना चाहिए और कहां तक नही।

एक बात और होती है, किन्ही कारणोवश बचपन मे यदि किसी के अन्दर आत्महीनता का भाव जड जमा लेता है तो वह वयस्क होने पर सहज ही विश्वास करने की भावना के रूप मे बदल जाता है। बात यह है कि सहज विश्वास करने का अर्थ होता है, विश्वस्त व्यक्ति या वस्तु के अभाव मे आ जाना। इसलिए आत्महीनता की भावना भी कभी-कभी इस रूप मे सामने आ जाती है। अत. बच्चो मे आत्महीनता के भाव भी कदापि जाग्रत न होने पावे, ऐसी चेष्टा होनी चाहिए कि सहज मे विश्वास करने की प्रवृत्ति बच्चो मे बहुत कम आती है, क्योकि इसके लिए जो कारण ऊपर बताए गए है, वे बहुत कम उपस्थित होते है। चूँकि बच्चा बडा अविश्वासी होता है इसलिए प्रभूत मात्रा मे इन कारणो तथा उसके अनुकूल वातावरण उपस्थित रहने पर सहज विश्वास की भावना उदय होती है। अधिक सम्भावना तो बच्चे के कठोर अविश्वासी बन जाने की ही रहती है। इसलिए प्रयत्न यही होना चाहिए कि बच्चा अपनी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को त्याग कर विश्वास करना सीखे, क्योकि इसके बिना उसका जीवन अशान्त तथा सकटपूर्ण हो जाएगा। इसलिए उन कारणो पर भी प्रकाश डाल देना आवश्यक है जिससे बच्चे की अविश्वास-भावना दृढ होकर स्थायी बन जाती है, किन्तु उससे वास्तविक लाभ कुछ भी नही होता उलटे इसका बडा कुप्रभाव पडता है। बालको को किसी कार्य से विरत करने तथा किसी कार्य मे लगाने के लिए भय का आश्रय नही लेना चाहिए। यदि हम इस पर तनिक भी ध्यान दें और बालक की रुचि का अध्ययन कर उसे प्रेरित करने की चेष्टा करें तो अधिक सफलता मिल सकती है। जानकारी तथा अनुभव के आधार पर जब बच्चा धीरे-धीरे विश्वास करने की प्रवृत्ति की ओर बढता है तब वह अपने मे एक प्रकार की शान्ति का अनुभव करता है। अब तक सन्देहों से घिरा रहने के कारण उसका बाल-मन बडा बोझिल था,

विश्वास की भावना से उसमे शान्ति का संचार होता है। किन्तु अभी वह विश्वास का प्रयोग परीक्षा तथा अनुभव के लिए ही करता है। उसके इस परीक्षण-काल मे यदि उसे अपने इस विश्वास के कारण धोखा खाना पडता है, तो इसका प्रभाव वड़ा प्रतिकूल पडता है। वह विश्वास से खिच जाता है और धीरे-धीरे इस प्रकार की कई घटनाओ से उसके अविश्वासी स्वभाव का सृजन होने लगता है। डेढ-दो वर्ष के वच्चे के हाथ से आप खिलौना मॉगें, प्रथम तो वह यदि आप से अच्छी तरह विश्वास न होगा तो खिलौना देगा ही नही, किन्तु वह यदि आप पर विश्वास करता है तो दे देगा। खिलौना लेकर आप भाग जाने का, उसे फेक देने का स्वॉंग करे तो वह आपसे तुरन्त खिलौना ले लेगा और फिर आपको न देगा। वह आपके स्वॉंग को नही समझ पाया था। थोड़ा-वहुत विश्वास जो उसने आप पर जमाया था, उसे आपने थोडे-से खेल मे ही खो दिया। यह मैंने एक साधारण-सा उदाहरण दिया। ऐसे ही अनेक वातावरण के कारण वच्चा अविश्वासी हो जाता है। यह अविश्वास कभी-कभी व्यापक और कभी-कभी एकागी होता है।

पहले यह सकेत किया जा चुका है कि किन्ही वच्चो मे विश्वास की भावना वेग से वढती है और किन्ही मे धीरे-धीरे, जिस वच्चे मे विश्वास की गति मन्द होती है, उसे समझना चाहिए कि वह ज्ञानार्जन और अनुभव मे आगे नही बढ रहा है। वच्चे की ज्ञान-वृद्धि की गति आंकने के लिए उसके विश्वास का अध्ययन वडा उपयोगी होता है। किन्तु यह तभी होता है जब वच्चे के विश्वास को उसके ज्ञान के आधार पर स्वत विकसित होने का अवसर मिले। यह उसके विश्वास का स्वाभाविक विकास है। आश्वासन द्वारा या प्रत्यक्ष विश्वास का उपदेश वच्चो के लिए न तो उपयोगी होता है और न ऐसा विश्वास स्थायी ही होता है। गतिविश्वास, अविश्वास जैसे उसके विकृति-रूप विश्वास के विक विकास मे ही होते हैं। स्वत ज्ञान तथा अनुभव द्वार विश्वास दृढ तथा उपयोगीहोता है और उसमे विकृति आने

सम्भावना नही रहती। इसलिए बच्चे मे विश्वास पैदा करने का उत्तम साधन है, उसे ज्ञान तथा अनुभव देना। ज्ञान तथा अनुभव के प्रकाश मे अर्जित विश्वास कभी धोखा नही खाता और ऐसे विश्वास तथा अविश्वास का हृदय की अन्य भावनाओ पर भी कोई प्रभाव नही पडता। अन्य प्रकार से अर्जित विकृत-विश्वास या अविश्वासी का हृदय पर भी प्रभाव पडता है। जैसे अविश्वासी व्यक्ति का हृदय कठोर होना तथा विश्वास का अत्यन्त सरल होना। औरगजेव की कठोरता सर्वविदित है। उसका अविश्वास ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर नही वढा था वल्कि विघटित आघातो एव वातावरणो ने उसका सृजन किया था। शिवाजी भी अविश्वासी ही कहे जा सकते है यद्यपि वे औरगजेव की विकृत अवस्था की तुलना के योग्य नही है, पर समयोचित उत्तम अविश्वास की भावना उनमे भी थी अन्यथा वे अफजल खाँ से ठगे जाते। किन्तु इतना अविश्वासी होते हुए भी उनकी सरलता अपूर्व थी। स्पष्ट है कि शिवाजी के विश्वास तथा अविश्वास का विकास ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर हुआ था, इसीलिए उसका प्रभाव हृदय पर नही पडा।

कहने का तात्पर्य यह है कि विश्वास के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे की ज्ञानार्जन प्रवृत्ति तथा अनुभव को विकसित किया जाए। प्रत्यक्षतः उसके विश्वास या अविश्वास को छेडना उचित नही होता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विश्वास की आवश्यकता से कम आवश्यकता अविश्वास की नही है। वल्कि समान मात्रा मे जब दोनो प्रवृत्तियाँ वर्तमान रहती हैं तभी उनकी वास्तविक उपयोगिता भी होती है। इनमे से किसी एक की वृद्धि स्वय तो भयप्रद हो ही जाती है साथ-ही-साथ वह दूसरी को विलकुल दवा देती है। ऐसी स्थिति वडी जटिल हो जाती है। वढी हुई भावना स्वय को विकृत तो कर ही देती है उसके द्वारा दवा दी गई दूसरी भावना का भी प्रभाव वडा प्रतिकूल पड़ता है। अस्वाभाविक रूप से विकसित होने के कारण ऐसी विषमता उत्पन्न होती है। स्वाभाविक विकास मे दोनो की मात्रा समान

रहती है। वस्तुत यही स्थिति उत्तम चरित्र के निर्माण मे उपयोगी भी होती है। शिवाजी में दोनो (अविश्वास-विश्वास) की स्थिति समान रूप से थी। इसीलिए दोनो का यथावस्था उपयोग होता रहा।

बच्चों की कल्पना-शक्ति का विकास

कल्पना बडी सुखद होती है, क्योकि उसकी सीमा नही होती। हम असम्भव कल्पनाएँ भी किया करते है और उनमे हमारे मन को एक प्रकार की शान्ति, सुखद शान्ति मिलती है। मानव-जीवन मे कल्पना का वडा व्यापक महत्व है। कल्पना को पहले लोग मनुष्य के मन का फितूर समझते थे। वेकार बैठे लोगो के दिन काटने का वह एक साधन मानी जाती थी। किन्तु मनोविज्ञान ने मानव-जीवन मे कल्पना की उपयोगिता का अध्ययन किया है। मनोविज्ञान न यह सिद्ध कर दिया है कि व्यक्तित्व-निर्माण मे तथा मन के सतुलन को ठीक रखने मे कल्पना का प्रमुख हाथ है। जिस रूप मे वह उपस्थित होती है, भले ही उसका वह रूप अवास्तविक हो, किन्तु उसका आधार वास्तविक होता है। कल्पना केवल निरी कल्पना नही, वह हमारे अनुभवो का नूतन सस्करण है। अपने अनुभवो के प्रकाश मे मनुष्य कल्पनाओ की सृष्टि करता हैं और उसके द्वारा अपने मन को, अपनी भावनाओ को प्रेरित करता है। असफलताओ की वाढ मे मुरझाया हुआ मान-वमन, कल्पना से ही प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त करता है। जीवन मे कभी भी सुख न प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी इसी कल्पना पर अपनी आशा लगाए जीवित रहता है। यही नही, कल्पना के ही द्वारा मनुष्य अपने भविष्य को देखता है और उसका निर्माण करता है, वस्तुत कल्पना मानव-जीवन की सगिनी है। सगिनी ही नही, वह समस्त मानसिक ससार को आगे वढाने वाली पथ-प्रदर्शिका है। मानव की प्रगति का इतिहास कल्पना की प्रगति का इतिहास है।

कल्पना के आधार, इन्द्रियो द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान के विविध विषय ही होते हैं। जिनका कभी इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष नही होता, उनकी

कल्पना नही होती। क्षीरसागर की कल्पना हम इसलिए करते हैं क्योंकि क्षीर और सागर का हमने अलग-अलग प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है। केवल दोनो के संयोजन के ढग मे ही कल्पना है। वस्तुतः कल्पना का यही रूप ही है। उसका सारा सामान वास्तविक तथा पुराना होता है, केवल उनसे निर्मित दृश्य ही नूतन तथा कभी-कभी अवास्तविक होते हैं। मानव-शिशु जैसे ही इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान का साक्षात्कार करने लगता है, वह कल्पनाओ के पीछे दौडने लगता है। वयस्क की अपेक्षा यद्यपि इसका ज्ञान सीमित तथा अधूरा रहता है, फिर भी वह वयस्क की तुलना मे कल्पनाएँ अधिक करता है। बात यह है कि जिन स्थितियो मे कल्पना उत्पन्न होती है, वे स्थितियाँ बाल-मन को विशेष सुलभ होती हैं। कल्पना के लिए पहली स्थिति मन का खाली रहना है। यदि मन किसी काम मे सलग्न है, तो कल्पना नही करता। परन्तु यदि वह यो ही अवकाश पर है, तब तो उसके लिए एकमात्र कल्पना ही सहारा होती है। कहना न होगा कि बच्चा वयस्क की तरह अन्य किन्ही कार्यों मे बहुत कम व्यस्त रहता है। दूसरी स्थिति है असन्तोष। जब व्यक्ति मे असन्तोष की अधिकता हो जाती है या उसकी कोई इच्छा अपूर्ण रह जाती है तो कल्पना उसके असन्तोष को दूर करने का प्रयत्न करती है तथा इच्छा-पूर्ति के लिए काल्पनिक सफलता उपस्थित करती है। बच्चा अविकसित होने के कारण बहुत ही अपूर्ण रहता है। वह अपनी इस अपूर्णता की पूर्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है, किन्तु जैसा वह चाहता है, जल्दी ही पूर्ण विकास होता तो सम्भव नही होता। इसलिए वह नाना प्रकार की कल्पनाओ मे मग्न होकर अपने भावी व्यक्तित्व की रूपरेखा खीचा करता है।

बालक और वयस्क की कल्पनाओ मे आकाश-पाताल का अन्तर होता है। सबसे बडी विशेषता यह होती है कि बच्चा जितना ही छोटा होता है,उसकी कल्पनाएँ उतनी ही अस्थायी होती है। वह कल्पना करता जाता है और उसके स्वरूप को भूलता जाता है। किन्तु एक बात होती

है, इन भूली हुई कल्पनाओ का प्रभाव उसके अव्यक्त मन पर पडता है और तदनुसार वह बालक की प्रगति को प्रमाणित करती है। इसलिए वयस्कों की अपेक्षा बच्चो की कल्पना अधिक प्रभावशालिनी तथा उपयोगी कही जा सकती है। दूसरी विशेषता यह होती है कि वयस्क यथा-सम्भव-असम्भव कल्पनाओ की सृष्टि कम करता है। ऐसी बातो की कल्पना, जो उसके जीवन मे होनी असम्भव होती है, वयस्क बहुत कम करता है। यद्यपि इन असम्भव कल्पनाओ मे आनन्द उसे भी मिलता है, किन्तु बच्चो जैसा नही। बच्चा अपनी कल्पनाओ के सम्बन्ध मे यह नही सोचता कि क्या ये जीवन मे सम्भव भी है? वह तो उमग मे आकर असम्भव से भी आगे की कल्पना कर डालता है और इसीलिए उसे वयस्क की अपेक्षा कल्पना मे बडा आनन्द मिलता है। पक्षियो के साथ आकाश मे उडने की वह कल्पना करता है तथा महापुरुषो की कहानी के आधार पर, अपने को जगतपूज्य तथा ससार विजेता के रूप मे भी, कल्पना-ससार मे देख लेता है। चूंकि वयस्क ऐसी कल्पनाओ को असम्भव तथा हास्यास्पद समझता है, इसलिए यदि वह तरग मे आकर ऐसी कल्पना करता भी है तो उसके मन को न तो उतना आनन्द ही मिलता है और न इन कल्पनाओ का कोई प्रभाव ही पडता है। किन्तु बच्चा इन कल्पनाओ से पर्याप्त आनन्द भी लेता है और उसके भावी जीवन पर इनका गहरा प्रभाव भी पडता है। बात यह है कि बच्चा केवल करके ही नही रह जाता, बल्कि जिन कल्पनाओ मे उसे आनन्द मिलता है उन्हें जीवन मे उतारने के लिए वह तुरन्त प्रयत्नशील हो जाता है। किसी को घोडे पर चढा देख वह स्वय घुडसवार होने की कल्पना तो करता ही है साथ इसके लिए समय तथा परिस्थिति की प्रतीक्षा किए बिना वह लकडी के घोडे से ही काम चला लेता है। स्याही की मूंछो का निर्माण कर वह वयस्क होने की कल्पना को चरितार्थ कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चा कल्पनामात्र मे उपयोग नही करता बल्कि उस कल्पना को अपने जीवन मे लाने के लिए लालायित हो उठता है।

कल्पना द्वारा प्राप्त उसकी यह लालसा उसे आगे बढाने मे पर्याप्त सहायता करती है।

बच्चो का सासारिक अनुभव बहुत कम होता है और बिना किसी पूर्व अनुभव के कल्पनाओ का उदय होना असम्भव होता है, इसलिए प्राय. वे सुनी सुनाई कहानियो के आधार पर विशेष कल्पना किया करते हैं। इसीलिए बालको के लिए कहानी की बडी उपयोगिता है। इन कहानियो के आधार पर उत्पन्न कल्पनाएँ ही बच्चे के जीवन की दिशा निश्चित करती हैं। अनेक महापुरुषो के जीवन का अध्ययन करने पर हमे स्पष्ट ज्ञान होता है कि बचपन मे कहानियो के आधार पर उन्होने जिन उच्च कल्पनाओ मे विचरण किया तदनुसार ही वे अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके हैं। शिवाजी की माँ उन्हे गोद मे लेकर देशभक्तो, वीरो तथा अन्य महापुरुषो की कहानियाँ सुनाया करती थी। वे जिन महापुरुषो की कहानी सुनते रहे उन्ही के समान स्वय को बनाने की कल्पना करते रहे। यद्यपि वे वैसे नही बने, किन्तु जो बने वह उनसे कम नही था। यह भी निश्चित है कि महापुरुषो की कहानी से उन्होने अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे जो कल्पनाएँ की होगी, वे सभी उनके जीवन मे ही उतरी होगी, किन्तु शिवाजी जिस रूप मे आज हमारे हृदय मे विराजमान हैं, उनके उस रूप की निर्माता वे कल्पनाएँ ही हैं। वातावरण की विभिन्नता के कारण प्रत्येक बच्चे मे कल्पना के विविध रूप होते हैं। सभी बच्चे एक ही कल्पना नही कर सकते। कोई बच्चा सैकडो वीरो के बीच मे दहाडने वाला योद्धा होने की कल्पना करता है तो कोई प्रबल तर्क तथा प्रमाणो द्वारा सभा को स्तब्ध कर देने वाला विद्वान होने का स्वप्न देखता है। दोनो ही अपनी-अपनी कल्पना के आधार पर अपना कार्य-क्रम निश्चित करते है। भले ही पहला बच्चा वैसा वीर तथा दूसरा बच्चा वैसा विद्वान न बन सके, जैसा उसने सोचा था, किन्तु यह निश्चित है कि पहला व्यक्ति शारीरिक योग्यता तथा दूसरा बौद्धिक योग्यता मे दक्षता प्राप्त करेगा। कहने का तात्पर्य यह है

कि बच्चो के जीवन का रूप उनकी कल्पनाओ के ही ऊपर बहुत-कुछ निर्भर होता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिन बच्चो की कल्पना को उचित प्रोत्साहन तथा उचित आधार नही मिलता वे या तो अनुचित कल्पनाओ के आधार पर पथभ्रष्ट हो जाते हैं या आकाश-पुष्प की तरह ऊँची उडान भरने के अभ्यासी हो जाते हैं। दोनो ही अवस्थाएँ बच्चे के जीवन को नष्ट कर देती हैं। पहली अवस्था मे वह दुराचारी, निन्द्य तथा नीच कर्मों का करने वाला बन जाता है। फलत समाज मे उसका जीवन भार हो जाता है। दूसरी अवस्था बच्चे को आलसी, कर्त्तव्यहीन तथा बुद्धू बना देती है। ऐसा बच्चा सर्वदा कल्पना के ही ससार मे विचरण करता रहता है। सुखद एव विस्मयकारी कल्पनाओ मे डूबे रहने का अभ्यासी उसका मन, वास्तविक ससार से विमुख हो जाता है। सरल-से-सरल कार्यों की पूर्ति की भी क्षमता मे उसका मन नही लगता। वस्तुत जीवन-क्षेत्र मे उतरकर कल्पनाओ के आधार पर वास्तविक जीवन के निर्माण मे उसकी रुचि ही नही होती। बच्चे की कल्पना को इन रूपो मे परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व वातावरण पर है। बात यह है कि मन की यह विशेषता है कि वह कल्पनाओ से रहित हो ही नही सकता। उसकी अद्भुत चचलता उसे खाली बैठने का अवसर ही नही देती। ऐसी अवस्था मे यदि जीवन-क्षेत्र को स्पर्श करने वाली कल्पनाओ के लिए उसे आधार या प्रेरणा नही मिलती, तो वह या तो बुरे प्रभाव मे आकर निम्नकोटि की कल्पनाएँ करने लगता है या जीवन-क्षेत्र से दूर ऊँची उडानें भारने लगता है। इसलिए अभिभावको को बच्चे की कल्पना को जीवन-क्षेत्र मे उतारने के लिए उचित प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह होता है कि बच्चे की रुचि को जीवन-क्षेत्र के उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित किया जाए। ऐसे आदर्श, जिनसे व्यक्ति का जीवन सफल बनता है तथा समाज मे वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, बच्चे को विशेष आकर्षित करते हैं। इस ओर रुचि उत्पन्न हो जाने

पर बच्चे की कल्पना को एक उचित सामग्री मिल जाती है।

दुखद कल्पनाएँ भी होती है। भीरु तथा परिस्थितियो से पराजित बच्चा प्राय दुखद कल्पनाएँ ही करता है। ऐसी कल्पनाओ से उसका मानसिक स्तर गिर जाता है। वह अपनी दुखद कल्पनाओ से भयभीत होकर, उनके निवारण मे ही अपनी शक्ति खोता रहता है। इन दुखद कल्पनाओ का स्थायी प्रभाव पडता है। कल्पनाओ की विभिषिका से वह चिन्ताग्रहस्त हो जाता है और फिर अनेक मानसिक रोगो का शिकार हो जाता है। कभी-कभी किसी मानसिक आघात के कारण भी बच्चा दुखद कल्पनाओ का अभ्यासी हो जाता है। एक बार कल्पनाओ के इस जाल मे फँस जाने पर उससे शीघ्र छुटकारा नही मिलता। इसलिए यथासम्भव बच्चे को ऐसी परिस्थितियो से बचाना चाहिए। बच्चे के सामने अपने आर्थिक सकट की व्याख्या करना या ऐसी ही अनेक जटिल समस्याओ को प्रकट करना बडा घातक होता है। आप समझते होंगे, बच्चा इन बातो मे क्यो पडने जाएगा। किन्तु ऐसी बात नही होती। इन बातो से वह आपकी अपेक्षा अधिक प्रभावित होता है और इनके आधार पर वह अनेक दुखद कल्पनाएँ किया करता है। बचपन मे इस प्रकार की कल्पनाओ के विकृत हो जाने का परिणाम बुरा होता है। उसकी कल्पना-शक्ति स्वभावत दु ख की ओर उन्मुख हो जाती है। फल यह होता है कि बडा होने पर भी वह सुख एव उपयोगी कल्पनाओ की अपेक्षा कल्पनाएँ ही अधिक करता है। ये कल्पनाएँ उसे चिन्ताग्रस्त बना देती हैं। परिणामत. उसका स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति थोडी-सी आपत्ति पडने पर ही अपनी कल्पनाओ से विपत्तियो का अभाव मन के ऊपर लाद लेता है और उसी मे डूबकर पागल हो जाता है। ऐसे बहुत से व्यक्ति पाए जाते हैं जो व्यर्थ मे ही भावी दु ख की चिन्ता मे रात-रात जाग के बिता देते हैं। बचपन मे कल्पना का दु ख की ओर उन्मुख हो जाने का ही यह परिणाम है।

चाहिए यह कि बच्चा वैसी ही कल्पना करने का अभ्यासी बने जिसे

वह अपने जीवन-क्षेत्र मे उतार सके या जिसे जीवन-क्षेत्र मे उतारा जा सकता हो। ऐसा तभी होगा जब यह कल्पना करने के साथ ही उसके अनुसार कार्य करने की आदत भी अपने मे डाले। ऐसा हो जाने पर वह न तो केवल कल्पना-क्षेत्र मे विचरण करने वाला आधार ही बनेगा और न विकृत तथा दुखद कल्पनाओ के जाल मे ही फसेगा। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वातावरण तथा परिस्थितियो के कारण किसी-किसी बच्चे की कल्पना-शक्ति मद हो जाती है। वह स्थिति बडी दुखद होती है। ऐसे बच्चे का मानसिक-विकास एकदम रुक जाता है और उसका जीवन बेकार होता है। समस्त शारीरिक विकास तो होता ही रहता है, किन्तु मानसिक विकास रुक जाने से इन्द्रियाँ बेकार हो जाती हैं। ऐसा बच्चा बडा हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि से उसी अवस्था का रहता है जिस अवस्था मे उसका मानसिक विकास बन्द हुआ रहता है। यद्यपि यह एक प्रकार का मानसिक रोग है, किन्तु इसका प्रमुख कारण कल्पना-शक्ति का नष्ट हो जाना ही है। यह भी होता है कि कल्पना-शक्ति एकदम न नष्ट होकर क्षीण हो जाती है। यह स्थिति भी बच्चे के जीवन को दुखपूर्ण ही बनाती है। यद्यपि उसका कोई काम रुकता नही और साधारणत उसमे कोई विकार भी नही होता, किन्तु किसी भी समस्या पर वह सोच नही पाता और न किसी प्रकार के ज्ञान को ही हृदयगम की पाता है। फलत वह मूर्ख तथा बुद्धू बनकर यत्रवत् जीवन व्यतीत करता है। इसलिए अभिभावको को यह भी देखना चाहिए कि बच्चे की कल्पना-शक्ति क्षीण न होने पाये। यदि कल्पना के विचरण के लिए बच्चे की रुचि के अनुरूप कुछ अनुभव तथा जानकारी उसे मिलती रहे तो ऐसा नही होता।

कल्पना जीवन मे बडी उपयोगी है, उसके बिना व्यक्ति का एक क्षण भी नही चलता। यदि वह हमारे मानसिक जीवन से एक क्षण के लिए भी अलग हो जाए तो हम किकर्त्तव्यविमूढ हो जाएँ। हमे आगे क्या करना है इसका प्रतिकार हमे किस प्रकार करना चाहिए ? हम किस

प्रकार अपनी प्रगति कर सकते हैं इत्यादि प्रश्नो का जाल तो हमे सतत घेरे रहता है, उससे हमे कल्पना ही छुटकारा दिलाती है। यदि कल्पना न होती तो मानव-मन प्रश्नो के जाल मे घिरकर शान्त हो जाता, उसकी सारी चचलता काफूर हो जाती। यही कल्पना ही तो मन को चचलता तथा गति प्रदान करती है। इसलिए बच्चे की कल्पना-शक्ति को विकसत करने, बुद्धिमान तथा स्वस्थ बनाने के लिए अभिभावको तथा शिक्षको को सतत सचेष्ट रहना चाहिए।

प्रशसा द्वारा बच्चो का विकास

मानव-मन को गतिशील बनाने मे प्रशसा का महत्वपूर्ण योग है। विश्व की उन्नति के पीछे प्रशसा ही सूक्ष्म रूप से काम करती है। प्रशसा या सम्मान का यह रहस्य किसी से छिपा नही है। यही कारण है कि सभी क्षेत्र मे प्रगति के लिए यह उपयोग मे लायी जाती है। स्वागत, अभिनन्दन, पुरस्कार, उपाधि इत्यादि प्रशसा के ही अग हैं। मानव के मन से प्रशसा का बडा गहरा सम्बन्ध है। मन को वास्तविक प्रोत्साहन इसी से मिलता है। यदि प्रशसा न होती तो हम विश्व के प्रत्येक क्षेत्र मे जो अपार उन्नति देख रहे हैं वह न होती। विश्व के बडे-बडे अन्वेषको तथा महापुरुषों की जीवनी हमे बताती है कि प्रारम्भ मे उन्हे प्रशसा द्वारा ही प्रोत्साहन मिला है। वस्तुत प्रशसा का सम्बन्ध उत्साह से है। बिना उत्साह के कोई भी कार्य नही किया जा सकता। कठिन-से-कठिन कार्य भी उत्साह होने पर क्षणमात्र मे सम्पन्न हो जाते हैं और सरल से भी सरल कार्य उत्साह के अभाव मे दुस्साध्य हो जाते हैं। प्रशसा उत्साह की जननी है। वस्तुत मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रशंसा वर्तमान रहती है। एक क्षण के लिए भी प्रशसा का दूर होना व्यक्ति मे अनुत्साह उत्पन्न कर देता है, फल यह होता है कि वह व्यक्ति कायर तथा निकम्मा हो जाता है। उत्साह के अभाव मे व्यक्ति आलसी होकर अपना जीवन भी कष्टप्रद बना लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति को आगे बढने मे प्रशसा।

सहयोग आवश्यक है। यह हुई जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की बात। बाल-जीवन मे प्रशसा का इससे भी अधिक महत्व है।

बच्चो मे आत्म-स्थापन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। आत्म-स्थापन की यह प्रवृति बच्चो मे प्रशसा के प्रति एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न कर देती है। बच्चा अपने व्यक्तित्व का निर्माण इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर करता है। आत्म-स्थापन की प्रवृत्ति सभी बच्चो मे पाई जाती हैं, किन्तु उसका वास्तविक विकास तथा उचित दिशा मे उसका झुकाव वातावरण तथा शिक्षा के ऊपर निर्भर रहता है, और चूंकि प्रशसा का इस प्रवृत्ति से गहरा सम्बन्ध है इसलिए उसका समुचित उपयोग तथा उसके वास्तविक स्वरूप का बच्चे मे विकास उत्पन्न होना आवश्यक है। यही नही बच्चो मे उत्तम गुणो को अकुरित करने तथा असह्य प्रवृत्तियो को दमन करने मे भी प्रशसा का ही योग है। इसलिए बच्चे के भीतर प्रशसा के प्रति एक सीमित चाह उत्पन करने के लिए अभिभावको तथा शिक्षको को विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिए। यद्यपि बच्चा मूलत प्रशसा-प्रिय होता है, तथापि उसका वास्तविक तथा उत्तम सस्कार करने के लिए सूक्ष्म निर्देश तथा एक प्रकार की प्रेरणा का होना आवश्यक है। अन्यथा हो सकता है, उसका प्रशसा-प्रिय मूल स्वभाव विकृत होकर अनुचित सस्कार उसमे पैदा कर दे। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चे के भीतर मूलत' वर्तमान प्रशसा-प्रिय प्रवृत्ति का लाभ उठाकर हम बच्चे मे एक उच्च-व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

बच्चा जैसे ही कुछ जानकारी प्राप्त कर लेता है वैसे ही वह अपने अस्तित्व का भी वोध करने लगता है। अपने अस्तित्व का यह वोध ही आत्म-स्थापन का प्रारम्भिक रूप है। इतनी स्थिति हो जाने पर बच्चा स्वभावतः अपनी प्रशसा सुनने के लिए लालायित हो उठता है। प्रारम्भ मे उसकी लालसा बड़े वेग से आगे बढती है। फल यह होता है कि बच्चा प्रतिक्षण इसके लिए उत्सुक दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि इस अवस्था मे बच्चे का प्रत्येक कार्य केवल इसी उद्देश्य

से होता है कि उससे उसे कुछ प्रशसा मिले। वह सतत इसी प्रयत्न मे रहता है कि कौन-सा ऐसा कार्य कर रहा है जिससे मेरे माता-पिता आश्चर्यचकित होकर मेरी प्रशसा करें या मेरी बुद्धिमानी पर प्रसन्न हो जाएँ। यह प्रवृत्ति बच्चे मे इसी वेग से बढ जाती है। यहाँ अभिभावको को थोडा विवेक से काम लेना चाहिए। बच्चे की इस प्रवृत्ति से लाभ उठाकर उसमे उत्तम गुणो का बीजारोपण करना चाहिए, अच्छी-अच्छी आदतें उसमे डालनी चाहिएँ। अच्छे कामो के लिए उसकी जी खोलकर प्रशसा करनी चाहिए और उसे सदा ऐसे ही सत्पथ पर चलने का आदेश भी देना चाहिए। बच्चा ऐसे कामो की ओर नही जाना चाहता जो उसकी प्रशसा मे बाधक हो। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बुरे कामो के लिये उसे भरसक दण्ड देना चाहिए अपितु उसको दण्ड यही दें कि उसकी प्रिय वस्तु प्रशसा से वचित कर दें। प्रशसा का सहज प्रेमी बच्चा स्वय ही ऐसे कामो से विरत हो जाएगा जिसके द्वारा उसे प्रशसा नही मिलती। इस प्रकार हम उसे कुपथ से विरक्त भी कर सकते हैं।

कुछ और विकसित होने तथा अन्य साथियो के सम्पर्क मे आने पर बच्चे की यह एकागी प्रवृत्ति प्रतियोगी भाव मे परिवर्तित हो जाती है। अब वह अपने साथियो मे सबसे अच्छा बनने की चाह करने लगता है। इस समय बालक बडे वेग से तथा ध्यानपूर्वक अपने मे उच्च आदतो तथा उत्तम गुणो का विकास करने लगता है। बच्चे की इस प्रवृत्ति से शिक्षको को विशेष लाभ उठाना चाहिए। नए-नए ज्ञान को अर्जित करने की ओर बच्चा इस समय विशेष प्रयत्न करता है। प्रायः वह किसी अच्छे साथी से होड लगाकर सब चीजो मे उससे आगे बढने की कोशिश करता है। यह प्रवृत्ति और आगे बढकर आदर्श व्यक्ति बनने तथा उत्तम व्यक्तित्व सम्पादित करने मे लग जाती है। प्रायः प्रत्येक विकासशील व्यक्ति मे यही क्रम होता है। वातावरण तथा परिस्थितियो की विभिन्नता के कारण यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति का यह विकास-

क्रम विभिन्न रूपो मे सम्पन्न होता दिखाई देता है किन्तु मूलत प्रशसा प्राप्त करने की भावना द्वारा ही वह सब विकास प्रेरित होता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

उपर्युक्त विकासक्रम तथा उससे व्यक्तित्व-निर्माण का जो रूप बतलाया गया है वह प्रशसा के स्वस्थ तथा सही विकास मे ही सम्भव होता है। यदि यह प्रवृत्ति विकृत हो जाती है तो उलटा परिणाम उपस्थित करती है। एक सीमित मात्रा मे जहाँ तक बच्चे मे प्रशसा प्राप्त करने की भावना काम करती है वहाँ तक वह उपयोगी होती है किन्तु जब वह मर्यादा का अतिक्रमण कर अधिक हो जाती है तो बच्चे का उन्नति-क्रम बन्द हो जाता है। वैसी दशा मे बच्चे का ध्यान उक्त गुणो या प्रशसित कार्यों की ओर नही जाता अपितु वह केवल प्रशसा का भूखा दिखलाई देता है। ऐसा बच्चा हर एक काम चाहे भला हो या बुरा उसे अपनी प्रशसा ही समझता है। अति गर्व के कारण वह दुर्गुणो को भी अपनाने लगता है और धीरे-धीरे उसकी प्रशसा प्राप्त करने की भावना अन्तरमुखी होकर स्थायी हो जाती है। ऐसी अवस्था मे पहुँचकर बच्चा अपने कामो का स्वय प्रशसक हो जाता है, उसे दूसरो द्वारा की गई निन्दा की तनिक भी परवाह नही रहती। वह अपने आलोचको को बुरी दृष्टि से देखने लगता है। एक प्रकार से उसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रशसा प्राप्त करने की भावना का वेग बढ जाने के कारण वह प्रगति के स्थान पर उन्नति की ओर अग्रसर हो जाता है। फल यह होता है कि उसका भावी जीवन दुखमय हो जाता है।

किन्ही बच्चो मे प्रशसा जब प्रतियोगी-भाव मे परिवर्तित होती है तो विकृत हो जाती है। जब वह स्वस्थ तथा अपने सीमित रूप मे रहती है तो बच्चा अपनी आलोचना स्वय करने या अपने अच्छे साथी की तुलना मे अपनी स्थिति को रखते हुए अपने को उससे अच्छा बनाने का प्रयत्न करता है। वह अपने अन्दर के दुर्गुणो को खोज-खोज कर दूर करता

है। किन्तु जब प्रतियोगी-भावना विकृत हो जाती है तो वह ईर्ष्या में परिवर्तित हो जाती है। फलतः बच्चा अपने को न देखकर प्रतियोगी साथी से डाह करने लगता है और हर प्रकार से उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। अपने को सुधारने की भावना के स्थान पर साथी को हानि पहुँचाने की भावना स्थापित हो जाती है। फल यह होता है कि एक ओर जहाँ निन्दक तथा आततायी हो जाता है वही दूसरी ओर अपने समस्त अर्जित गुणो को भी पीछे छोड देता है। चूंकि उसका प्रतियोगी साथी आगे बढता चला जाता है और वह केवल उसे हानि पहुँचाने की भावना मे लिप्त रहने के कारण बहुत नीचे गिर जाता है इसलिए उसके अन्दर डाह की भावना बडी तेज़ हो जाती है। फलतः वह चरित्र-भ्रष्ट होकर पतित हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रशसा प्राप्त करने की भावना तथा उससे उत्पन्न प्रतियोगी भाव का सामान्य रूप मे रहना ही हितकर होता है। असामान्य स्थिति में पहुँच जाने पर इनसे हानि ही अधिक होती है। प्रशसा के बीच-बीच मे आलोचना का थोडा-सा पुट देते रहने पर इस भावना की अधिकता रोकी जा सकती है और प्रतियोगिता की परीक्षाओ को या ऐसे अवसरों को कभी-कभी उपस्थित करने पर प्रतियोगी-भावना की विकृति को बचाया जा सकता है।

शिक्षा-क्षेत्र मे प्रशसा का बडा सुन्दर सहयोग मिलता है। सीखने की अनेक बाधाएँ इससे सहज ही मे दूर हो जाती हैं या उनकी अवधि कम हो जाती है। वैसे सामान्यत. सभी बच्चो को शिक्षित करने मे इसका उपयोग बडा लाभकारी होता है। यहाँ एक बात और विचारणीय है। किन्ही-किन्ही बच्चो मे प्रशसा प्राप्त करने की भावना दब जाती है। ऐसा अविभावको या शिक्षको की असावधानी से होता है। प्रारम्भ मे जब बच्चा किसी कार्य को इसकी प्रेरणा से करता है और उस समय यदि उसे प्रशसा के बदले फटकार, अपमान सहन करना पडता है तो उसकी वह भावना दब जाती है या अन्य किन्ही कारणो से जिन बच्चों को बचपन मे प्रशसा या

उत्साह नहीं मिलता उनकी भी यह भावना दव जाती है। कभी-कभी साथियो द्वारा अनुचित रूप से अपमानित होने पर भी ऐसा हो जाता है। वच्चे के लिए यह स्थिति वडी हानिप्रद होती है। प्रशसा प्राप्त करने की भावना का दव जाना उत्साह भग हो जाना है। ऐसी स्थिति मे वच्चे का मानसिक विकास मन्द पड जाता है। यही नही उसके अव्यक्त मन पर एक ग्रन्थि पड जाती है। जो आगे चलकर वच्चे मे अनेक मानसिक रोग उत्पन्न कर देती है। ऐसा वच्चा वडा होने पर अनुचित रूप से प्रशसा प्राप्त करने की भावना से अभिभूत हो जाता है। फल यह होता है कि प्रत्यक्ष रूप मे वह ऐसे कार्यों को करता है जो समाज की दृष्टि मे हास्यास्पद होते हैं। लोगो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तथा अपने मे चमत्कारिता उत्पन्न करने की दृष्टि से वह ऐसी हरकतें करता है या ऐसे कार्यों को करता है जो समाज-विरोधी या लोगो की दृष्टि मे अति तुच्छ होते हैं। वहुत से लोग ऐसे है जो अपने शरीर को कृत्रिम रूप से इस प्रकार वनाकर चलते हैं जिसे देखकर हँसी आती है। वह अपने वोलने के ढग मे भी इसी प्रकार की कृत्रिमता रखता है। यह एक मानसिक रोग है। प्रशसा से वचित हो जाने के कारण अव्यक्त मन मे जो ग्रन्थि पड जाती है उसी का यह फल है।

प्रशसा के स्वरूप के सम्वन्ध मे स्पष्टीकरण कर देना नितान्त आवश्यक है। वच्चे की प्रशसा का प्रदर्शन उसका वास्तविक रूप नही है। वस्तुत किसी प्रशसा से वच्चे को वास्तविक प्रेरणा नही मिलती, इससे वच्चा तो विगड सकता है। वस्तुत: हार्दिक प्रशसा का ही स्वस्थ प्रभाव पडता है। उसके कार्यों के प्रति आपकी दिलचस्पी, उसके कार्यों को ध्यान और रुचिपूर्वक निरीक्षण करने की भावना से मूक एव हार्दिक सहानुभूति का भाव प्रकट होता है। ऐसे ही भावो से वच्चा प्रभावित होता है। हमारी हार्दिक भावनाओ को वच्चा नही समझ पाएगा, ऐसा सोचना नितान्त भूल है। वह आपकी भावनाओ की तह तक तुरन्त पहुँच जाता है और वहाँ से सीधे प्रेरणा लेता है। जव तक वच्चे मे स्वय विवेक का

उदय नही होता तथा जब तक वह स्वय अपने व्यक्तित्व को उत्तम बनाने के स्वस्थ विचारो से प्रेरित नही होता तब तक वह आपकी इन्ही भावनाओ से प्रेरणा लेता रहता है। आपकी रुचि को ही आधार मानकर वह अपना निर्माण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभिभावको एवं शिक्षको के मन मे बच्चे के प्रति निन्दात्मक या प्रशसात्मक जो भी भाव रहते हैं उनसे वह पूर्णत भिन्न रहता है और उसके निर्माण के वे भाव ही मुख्य आधार होते हैं। इसलिए बच्चो के लिए ऐसा आधार मिलना चाहिए जिसमे वे प्रेरणा प्राप्त करे। सयोगात् जिन बच्चो को ऐसा आधार नही मिलता उनकी आत्म-स्थापना की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और उसके बदले आत्म-हीनता तथा दैन्य की भावना उनमे अड्डा जमा लेती है। ऐसा बच्चा लोगो के समक्ष उपस्थित होने मे भी हिचकता है। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। फल यह होता है कि अनेक समाज-विरोधी कार्यों को वह छिपकर करने लगता है। चोरी करने की आदत और झूठ बोलने की आदत ऐसी ही स्थिति मे विशेषकर पडती है। यही नही उसमे और भी भयंकर दुर्गुण आ जाते हैं जो आगे चलकर उसे पतित बना देते हैं। इसलिए आवश्यक यह है कि किसी भी बच्चे के प्रति हम बुरी भावना न बनायें। कुछ-न-कुछ गुण तो उसमे रहता ही है। उन्ही को अपने हृदय मे स्थान देकर उसे विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हो, ऐसा हो जाने पर आगे चलकर उसमे और भी अच्छे गुणो का विकास हो जाता है। किसी बच्चे के प्रति हृदय मे कुत्सित भावना बना लेना वस्तुत: बच्चे को नष्ट कर देना है। हर-एक बच्चे को कही-न-कही से हार्दिक प्रशसा तथा सहानुभूति मिलनी चाहिए। बिना इसके कोई भी बच्चा विकसित नही हो सकता।

बच्चे की रुचि और ध्यान का विकास

पहले ध्यान को एक माननिक शक्ति माना जाता था। परन्तु प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने अन्वेषण के फलस्वरूप अब यह सिद्ध कर दिया है कि यह एक मानसिक क्रिया है। बिना ध्यान के हम कोई कार्य नही कर सकते। हम चाहे जो कार्य करें उसमे हमे ध्यान देना ही होगा। ध्यान का सम्बन्ध चेतना से है, किसी वस्तु पर ध्यान देना उस पर अपनी चेतना केन्द्रित करना है। जागृतावस्था मे हमारा ध्यान किसी-न-किसी वस्तु पर केन्द्रित रहता है।

साधारणत: हमारी यह धारणा है कि हम एक-बार कई वस्तुओ को देख लेते हैं। उदाहरणार्थ किसी कमरे के निरीक्षण से जान पडता है कि हम एक साथ कई वस्तुओ को देख रहे है। परन्तु बात ऐसी नही है। हम एक बार एक ही वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित कर सकते हैं। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि एक क्षण मे हम बारी-बारी से अपनी चेतना कई वस्तुओ पर केन्द्रित कर ले। इस प्रकार अपनी चेतना केन्द्रित कर सकने मे वैयक्तिक वैभिन्न्य पाया जाता है। यदि हम एक बार एक ही वस्तु को देख सकते हैं, तो एक क्षण मे बारी-बारी से कई वस्तुएँ हम कैसे देख पाते हैं, और हमे यह कैसे मालूम होता है कि हम एक बार कई वस्तुएँ देख रहे हैं? ऊपर हम कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रित होने से हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रीत करते हैं। हमारी ध्यान-चेतना के दो भाग होते हैं केन्द्रीय और तटीय। जिस वस्तु पर

उदय नही होता तथा जब तक वह स्वय अपने व्यक्तित्व को उत्तम बनाने के स्वस्थ विचारो से प्रेरित नही होता तव तक वह आपकी इन्ही भावनाओ से प्रेरणा लेता रहता है। आपकी रुचि को ही आधार मानकर वह अपना निर्माण करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभिभावको एव शिक्षको के मन मे बच्चे के प्रति निन्दात्मक या प्रशसात्मक जो भी भाव रहते हैं उनसे वह पूर्णत भिन्न रहता है और उसके निर्माण के वे भाव ही मुख्य आधार होते हैं। इसलिए बच्चो के लिए ऐसा आधार मिलना चाहिए जिससे वे प्रेरणा प्राप्त करे। सयोगात् जिन बच्चो को ऐसा आधार नही मिलता उनकी आत्म-स्थापना की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और उसके बदले आत्म-हीनता तथा दैन्य की भावना उनमे अड्डा जमा लेती है। ऐसा बच्चा लोगो के समक्ष उपस्थित होने मे भी हिचकता है। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। फल यह होता है कि अनेक समाज-विरोधी कार्यों को वह छिपकर करने लगता है। चोरी करने की आदत और झूठ बोलने की आदत ऐसी ही स्थिति मे विशेषकर पडती है। यही नही उसमे और भी भयकर दुर्गुण आ जाते हैं जो आगे चलकर उसे पतित बना देते हैं। इसलिए आवश्यक यह है कि किसी भी बच्चे के प्रति हम बुरी भावना न बनायें। कुछ-न-कुछ गुण तो उसमे रहता ही है। उन्ही को अपने हृदय मे स्थान देकर उसे विकसित करने के लिए प्रयत्नशील हो, ऐसा हो जाने पर आगे चलकर उसमे और भी अच्छे गुणो का विकास हो जाता है। किसी बच्चे के प्रति हृदय मे कुत्सित भावना बना लेना वस्तुत: बच्चे को नष्ट कर देना है। हर-एक बच्चे को कही-न-कही से हार्दिक प्रशसा तथा सहानुभूति मिलनी चाहिए। बिना इसके कोई भी बच्चा विकसित नही हो सकता।

बच्चे की रुचि और ध्यान का विकास

पहले ध्यान को एक मानसिक शक्ति माना जाता था। परन्तु प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने अन्वेषण के फलस्वरूप अब यह सिद्ध कर दिया है कि यह एक मानसिक क्रिया है। विना ध्यान के हम कोई कार्य नही कर सकते। हम चाहे जो कार्य करें उसमे हमे ध्यान देना ही होगा। ध्यान का सम्बन्ध चेतना से है, किसी वस्तु पर ध्यान देना उस पर अपनी चेतना केन्द्रित करना है। जागृतावस्था मे हमारा ध्यान किसी-न-किसी वस्तु पर केन्द्रित रहता है।

साधारणत. हमारी यह धारणा है कि हम एक-बार कई वस्तुओ को देख लेते हैं। उदाहरणार्थ किसी कमरे के निरीक्षण से जान पड़ता है कि हम एक साथ कई वस्तुओ को देख रहे है। परन्तु बात ऐसी नही है। हम एक बार एक ही वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित कर सकते हैं। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि एक क्षण मे हम बारी-बारी मे अपनी चेतना कई वस्तुओ पर केन्द्रित कर ले। इस प्रकार अपनी चेतना केन्द्रित कर सकने मे वैयक्तिक वैभिन्न्य पाया जाता है। यदि हम एक बार एक ही वस्तु को देख सकते हैं, तो एक क्षण मे बारी-बारी से कई वस्तुएँ हम कैसे देख पाते हैं, और हमे यह कैसे मालूम होता है कि हम एक बार कई वस्तुएँ देख रहे हैं? ऊपर हम कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रित होने से हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रीत करते हैं। हमारी ध्यान-चेतना के दो भाग होते है केन्द्रीय और तटीय। जिस वस्तु पर

हमारा ध्यान जाता है वह केन्द्रीय चेतना का अग बन जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुएँ होती हैं जो तटीय चेतना के अन्तर्गत पडी रहती हैं और मस्तिष्क जब चाहे तब उन्हे केन्द्रित चेतना का अग बनाने मे समर्थ होता है। इसीलिए तो हमारे ध्यान को एक वस्तु पर जाने मे कुछ देर लगते नहीं जान पडता। यह ध्यान मे रखने की बात है कि केन्द्रीय और तटीय चेतना को विभाजित करने के लिए कोई निश्चित रेखा नही। जो वस्तु तटीय चेतना के अन्तर्गत है वही केन्द्रीय चेतना से तुरन्त ही आ सकती है और केन्द्रिय चेतना वाली तटीय मे आ सकती है। अत हम कह सकते है कि ध्यान का विषय बदला करता है। हमारा यह अनुभव भी है कि हम क्षण-क्षण पर अपना ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर हटाया करते है। ध्यान का विषय वही माना जाएगा जिस पर हमारी चेतना केन्द्रित होगी। ध्यान को समझने के लिए हमे उसके और चेतना के भेद को समझ लेना चाहिए।

ध्यान और चेतना

ऊपर हम कह चुके है कि चेतना के केन्द्रीय होने से हमारा ध्यान किसी वस्तु पर जाता है, परन्तु इससे यह समझना भूल होगी कि ध्यान और चेतना मे भेद नही। जिस वस्तु पर हमारा ध्यान जाता है उसकी चेतना हमे अवश्य होती है, परन्तु चेतनता के अन्तर्गत आयी हुई सभी वस्तुओ पर हमारा ध्यान जाना आवश्यक नही। चेतना का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो सकता है और ध्यान उसका केवल एक अग हो सकता है। कमरे मे रखी हुई विभिन्न वस्तुएँ जैसे चित्र, कलम, कुर्सी, मेज, पखा, चारपाई तथा दर्पण हमारी चेतनता मे आ सकती हैं—परन्तु ध्यान हमारा केवल दर्पण पर ही केन्द्रित हो सकता है, क्योकि हम उसमे अपना शरीर देख सकते हैं। इस प्रकार चेतनता के दो क्षेत्रो की बात कही जा सकती है—ध्यान वाला और उपेक्षा वाला। ध्यान वाला क्षेत्र केन्द्रीय चेतना मे होता है और उपेक्षा वाला तटीय मे। तटीय चेतनता को कभी-

कभी उपचेतनता- की भी सज्ञा दी जाती है। उप-चेतना मे रहने वाली वस्तुओ पर हमारा ध्यान नही जाता, तो उसकी हमे चेतना कैसे रहती है। उप चेतना की वस्तु से हमारी चेतना के पूरे वातावरण की ओर सकेत मिलता है। उप-चेतना मे रहने वाली वस्तुओ के हट जाने पर हमे उसकी चेतना हो जाती है। जैसे, घडी की टिक-टिक की हमे चेतना नही रहती, परन्तु टिक-टिक के बन्द हो जाने पर हमे तुरन्त चेतना हो जाती है कि घडी का चलना बन्द हो गया।

ध्यान की दशाएँ

जिन बातो के कारण हम अपना ध्यान किसी वस्तु पर केन्द्रित कर पाते हैं, उसे ध्यान की दशाएँ कहते हैं। इन बातो मे कुछ का सम्बन्ध वातावरण मे होता है, जैसे उद्दीपक की तीव्रता तथा काल और वस्तु की गतिशीलता इसके अतिरिक्त कुछ का सम्बन्ध व्यक्तिगत बातो से होता है, जैसे व्यक्ति की शिक्षा, रुचि, मन, स्थिति, वास्तविक क्रिया-शीलता। ध्यान की दशाओ के इस वर्गीकरण का तात्पर्य यह नही कि एक दशा दूसरे से स्वतत्र होती है। वस्तुत ये सभी मिलकर हमारे ध्यान को कभी-कभी किसी वस्तु की ओर खीचती हैं। ध्यान के केन्द्रित होने मे तात्कालिक क्रियाशीलता, प्रयोजन और मन स्थिति का सदा प्रभाव पडा करता है, यद्यपि वातावरण-सम्बन्धी बाते भी अपनी उग्रता के कारण हमारा ध्यान अपनी ओर अनायास खीच लेती हैं। नीचे हम वातावरण तथा व्यक्तिगत सम्बन्धी ध्यान की दशाओ को अलग-अलग समझने की चेष्टा करेंगे।

वातावरण-सम्बन्धी ध्यान की दशाएँ

आकार

आकार का हमारे ध्यान पर बडा प्रभाव पडता है। प्राय: यह सभी का अनुभव है कि बौना या बहुत लम्बा आदमी हमारा ध्यान आकर्षित

कर लेता है। समाचार-पत्र में छपे हुए सबसे बड़े चित्र की ओर हमारा ध्यान तुरन्त चला जाता है।

गति

गतिशील वस्तु की ओर हमारा ध्यान शीघ्रतर चला जाता है। दुकान मे गतिशील खिलौना अन्य खिलौनोकी अपेक्षा हमारा ध्यान शीघ्रतर आकर्षित कर लेता है। हम अपने मित्र का ध्यान खीचने के लिए उसकी ओर अपना हाथ या रूमाल हिलाते हैं—केवल हाथ अथवा रूमाल का दिखलाना ध्यान को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त नही होता। इसीलिए तो रेल के ड्राइवर को सकेत देते समय गार्ड झण्डी को केवल दिखलाता ही नही, वरन् उसे हिलाता भी रहता है।

अवधि

घडी मे एलार्म लगाने के लिए हम कुजी को अच्छी प्रकार कसते हैं, जिससे उपयुक्त समय पर वह काफी देर तक बजती रहे। घूमकर सौदा बेचने वाले अपनी आवाज़ लम्बी करके निकालते हैं, जिससे लोगो का ध्यान वे अवश्य ही आकर्षित कर लें। बात यह है कि उद्दीपक जितना ही दीर्घकालीन होता है उतनी ही हमारे स्नायुमण्डल की अवरोधक-शक्ति कम हो जाती है। स्नायु-मण्डल के अवरोध-शक्ति की कमी के कारण व्यक्ति का ध्यान किसी वस्तु की ओर शीघ्र ही आकर्षित न हो सका तो किसी दूसरे आसन मे हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

आवृत्ति

उद्दीपक की आवृत्ति भी हमारे ध्यान को आकर्षित कर लेती है। इसीलिए तो शिक्षक या वक्ता जिस बात की ओर अपने श्रोताओ का ध्यान आकर्षित करना चाहता है उसे वह कई बार दोहराता है।

तीव्रता

तीव्रता हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। इसीलिए

तो दूसरो का ध्यान आकर्षित करने के लिए लोग कभी गाढे रग के कपडे पहनते हैं। गहरे अक्षरो मे लिखा हुआ विज्ञापन अथवा सूचना हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। दीपक की अपेक्षा बिजली का तीव्र प्रकाश हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेता है।

ध्यान की व्यक्तिगत दशाएँ

(१) व्यक्ति विचित्र सामाजिक बातो से प्रभावित होता ही है। जो बातें उसका निकटवर्ती समाज करता है उसकी ओर उसका ध्यान स्वभावत आकर्षित हो जाता है और उसे वह करना चाहता है।

रुचि

(२) रुचि और ध्यान मे घनिष्ठ सम्बन्ध है जिस वस्तु मे हमारी रुचि होती है उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। बाजार अथवा समाचार-पत्र की वही वस्तुएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती है जिनमे हमारी रुचि होती है।

शिक्षा और अनुभव

(३) अपनी-अपनी शिक्षा और अनुभव के अनुसार लोग विभिन्न वस्तुओ की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिए समान वातावरण मे विभिन्न लोगो की प्रतिक्रियायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। किसी बाग मे आने पर 'वनस्पति विज्ञानवेत्ता', 'माली' तथा 'सुगन्ध-रसिक' का ध्यान विभिन्न बातो पर जाएगा। ऐसा उनकी शिक्षा तथा अनुभव के कारण ही होता है।

रुचि

ऊपर हम कह चुके हैं कि ध्यान और रुचि मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुत ध्यान की व्यक्तिगत दशाओ मे रुचि का प्रभाव बडा व्यापक जान पडता है। नियम के अनुसार रुचि वह प्रवृत्ति है जिससे हम किसी अनु-

भव मे दत्तचित्त होकर उसे जारी रखना चाहते हैं। विघम की इस उक्ति मे ध्यान और रुचि की परस्पर-निर्भरता एकदम स्पष्ट है। मैग्डूगल कहता है कि "रुचि छिपा हुआ ध्यान है और ध्यान रुचि का क्रियात्मक रूप है।"

रुचियो के भेद

(१) जन्मजात—रुचियो के दो भेद किए जा सकते है, जन्मजात और अर्जित। जन्मजात रुचियाँ मूल प्रवृत्यात्मक होती हैं, जैसे खाने-पीने, दौडने-भागने, लडने और चिल्लाने की रुचियाँ। मूल प्रवृत्तियो और सामान्य प्रवृत्तियो की क्रियाशीलता से हमे कुछ विशिष्ट वस्तुएँ रुचिकर लगती हैं। माँ की रुचि अपने पुत्र मे है। विल्ली की रुचि चूहे मे होने से वह विल के पास चुपके-से छिप जाती है। सर्प की रुचि मेढको मे होती है। इसीलिए कभी उन्हे निगलने के लिए वह कुएँ अथवा पानी के गड्ढो मे चला जाता है। ऐसी रुचियो को जन्मजात अथवा स्वाभाविक कहा जा सकता है।

(२) अर्जित—शिक्षा अथवा अनुभव के फलस्वरूप जो रुचियाँ व्यक्ति मे उत्पन्न होती है वे अर्जित कही जाती है। अर्जित रुचियो की भी नीव जन्मजात रुचियो मे ही होती है। उदाहरणार्थ वालको की संगीत तथा पढने-लिखने मे रुचि उसके आत्म-प्रकाशन-सम्बन्धी जन्म-जात रुचि अथवा मूल प्रवृत्ति के कारण हो सकती है।

रुचि के न होने से व्यक्ति किसी वस्तु की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखता है। पेट भरे रहने पर बालक की रुचि मिठाई को ओर नही रहती। रुचि के न रहने पर बालक अपना ध्यान कक्षा-शिक्षण मे नही लगाता। अत प्रत्येक पाठ का सम्बन्ध वालक की रुचियो से होना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षक का श्रम व्यर्थ जाएगा।

ध्यान और रुचि के इस सक्षिप्त मनोवैज्ञानिक विवेचन के वाद नीचे हम इन्हे बालको के विकास के सम्बन्ध मे अति सक्षेप मे समझने की

चेष्टा करगे, क्योंकि यहाँ हमारा क्षेत्र वहुत ही सीमित है।

वालक में ध्यान देने की शक्ति का विकास

अभी तक यह निश्चय नही किया जा सका है कि शिशु किस समय मे किसी वस्तु की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने मे समर्थ होता है। प्राय यह देखा जाता है कि एक महीने की उम्र के पहले ही शिशु दीपक की ओर एकटक देखने का प्रयास करता है। दो महीने का शिशु तो दीपक के हटा लेने पर रोते हुए भी देखा जाता है, और फिर दीपक के आजाने पर चुप हो जाता है। कमरे मे किसी के आने पर चार-पाँच महीने का शिशु उसकी ओर कुछ आकर्षित होते देखा जाता है। एक महीने का शिशु किसी वस्तु की ओर वहुत देर तक नही देख सकता। उसकी आँखें वहुधा इधर-उधर नाचा करती है। परन्तु चार महीने का शिशु कुछ देर तक किसी वस्तु को देखते रहने मे सफल होता है। अव वह दूसरो की आवाज़ से आकर्षित होता है और पुचकारने का उत्तर मुस्कराकर देता है। इस प्रकार ध्यान देने की उसकी शक्ति उत्तरोत्तर वढती रहती है। इस शक्ति के वढने का उसकी रुचियो के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जव शिशु की रुचि खिलौने मे हो जाती है तो उनकी ओर वह अपना ध्यान केन्द्रित करने लगता है।

वान गेलिस्टन ने अपने अन्वेषण मे देखा कि दो वर्ष के शिशु केवल ७ ही मिनट किसी वस्तु की ओर स्थिर ध्यान से देख सकते थे, परन्तु चार-पाँच वर्ष के शिशु १४-१५ मिनट तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके। ध्यान की स्थिरता और वालक के व्यक्तित्व-विकास मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्द वुद्धि का वालक अपने ध्यान को कम केन्द्रित कर पाता है, परन्तु ध्यान स्थिरता के आधार पर किसी वालक को मन्द वुद्धि का मान लेने के पहले यह निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है कि किसी वस्तु-विशेष मे वालक की रुचि है या नहीं। कहना न होगा कि रुचि के अभाव मे वह उन वस्तु की ओर अपना ध्यान न दे सकेगा। वस्तुत.

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना गलत है कि बालक ध्यान नही दे रहा है। वह (या कोई भी व्यक्ति) सदा किसी-न-किसी वस्तु पर ध्यान दिया करता है। हाँ, यह हो सकता है कि इस वस्तु पर ध्यान न देकर बालक कभी हमारी अपेक्षा के विपरीत किसी दूसरी वस्तु पर ध्यान दे सकता है क्योकि अपनी रुचि के अनुसार अपने ध्यान का केन्द्र वह चुन ही लेता है।

बालक के ध्यान का केन्द्र उसके स्वभाव, स्वास्थ्य और उद्देश्य पर निर्भर करता है। साधारणतः जिस खिलौने से बालक खेलता रहता है बीमारी की दशा मे उसे वह झनककर फेंक दिया करता है। स्ट्रैङ्ग के अनुसार पाँच वर्ष का बालक मिट्टी तथा लकडी के खिलौने, गुडिया तथा रगीन खडिया से अधिक आकर्षित होता है। धीरे-धीरे उसकी रुचियाँ दूसरी वस्तुओ मे होने लगती हैं। तब वह इन वस्तुओ की ओर अधिक आकर्षित नही होता। किसी वस्तु की ओर बालक का ध्यान हठात् लगाना अमनोवैज्ञानिक है, क्योकि उसका ध्यान हठात् लगाया ही नही जा सकता। अत बालक के ध्यान न देने पर उसके कारण को समझ-कर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

बालक की रुचियाँ

ऊपर हम सकेत कर चुके हैं कि व्यक्तित्व-विकास मे रुचियो को विशेष महत्व होता है। जिसके पास जितनी रुचियाँ होती हैं उसका व्यक्तित्व उतना ही व्यापक होता है। अत. बालक मे अनेक रुचियो का विकास करना आवश्यक है। अनेक रुचियो के रहने से अकसर वह अपना पथ निर्धारित करने मे सफल हो सकेगा, अन्यथा उसमे कूपमण्डू-कता आ जाएगी। कई रुचियो के रखने से मानसिक उदारता बढती है। इससे व्यक्ति को समय-समय पर मानसिक विश्राम भी मिलता रहता है, क्योकि एक रुचि वाले विषय के साथ काम करने से व्यक्ति जब तक थक जाता है तो दूसरी रुचि वाले विषय मे लगने से उसकी मानसिक थकावट कुछ दूर होती जान पड़ती है।

सर्वप्रथम अभिभावको को वालको की रुचियो को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। वालक की किसी इच्छामात्र से उसकी रुचि का अनुमान लगा लेना ठीक न होगा। रुचि का सम्बन्ध किसी विषय के सबन्ध मे व्यक्तिगत क्रियाशीलता से होता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना है कि रुचि और योग्यता मे विशेष सम्बन्ध नही। रुचि के रखते हुए भी अनुकूल वातावरण के अभाव मे वालक मे तत्सम्बन्धी योग्यता का अभाव हो सकता है। सगीत मे रुचि रखते हुए भी यदि अच्छा गुरु न पा सका तो उसमे सगीत-सवन्धी योग्यता न आएगी। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के कारण यह आवश्यक है कि वालक की रुचि का ठीक-ठीक पता लगाया जाए और उसके हेतु समुचित उपकरणो का आयोजन किया जाए।

उम्र के वढने के साथ वालको की रुचियो मे परिवर्तन आता रहता है। अत जो वाते शैशव मे अच्छी लगती है वे वचपन मे अरुचिकर लग सकती हैं और वचपन की वाते किशोर के लिये व्यर्थ हो सकती हैं। नीचे हम देखेंगे कि वालको की रुचियो मे उत्तरोत्तर विकास कैसे होता है।

खेल-सम्वन्धी रुचियाँ

वालको के खेलो के अध्ययन मे उनके वर्तमान स्वभाव, योग्यता और आवश्यकता का वहुत हद तक पता लगाया जा सकता है। शैशव मे वालक अपनी क्रियाशीलता के क्रम मे एकदम स्वतन्त्र रहना चाहता है। इस समय उसकी रुचि केवल स्वतन्त्र रहने मे ही जान पडती है। इधर-उधर आना-जाना, वस्तुओ को उलटना पटकना तथा फोडना उसके मनोरजन और खेल का प्रधान अग जान पडता है। एक वर्ष का शिशु अपने दूध-भरे प्याले को नष्ट करते देखा जाता है। घर मे रखी हुई वस्तुओ को अस्त-व्यस्त करने मे वह मग्न दिखलाई पडता है। डेढ दो वर्ष का शिशु धूल मे खेलना पसन्द करता है। गेद भी उसके खेल का एक साधन है। तीन-चार वर्ष का वालक छडी को घोडा मानकर उसकी

सवारी करता है और खिलौने को गाडी मानकर उसका ड्राइवर बनने का स्वाँग करता है। अभी तक उसके खेल प्राय व्यक्तिगत ही होते हैं। छ -सात वर्ष की उम्र मे उसके खेल का स्वरूप सामूहिक होने लगता है। समूह मे रहना तो उसे दूसरे साल की उम्र से ही अच्छा लगता है, परतु दो-तीन वर्प के बच्चे समूह मे रहते हुए भी अपने-अपने वैयक्तिक खेल मे ही मस्त रहते हैं।

छ -सात वर्ष पर बालक की रुचि जब सामूहिक खेलो मे होने लगती है तो साथी न मिलने पर उसके सामाजिक विकास को बडा धक्का लगता है, तब उसके भाषा विकास मे भी विघ्न पडता है। सात वर्ष की अवस्था से बालक मे विधायकता की मूल प्रवृत्ति विशेषत जागृत होने लगती है। अब उसके खेल मे विधायकता का पुट देखने को मिलता है। धूल व मिट्टी के घर, फूलो की माला तथा कागज की नाव आदि बनाने का प्रयास करना उसके खेल के अग हुआ करते हैं। इसी समय लडकियाँ गुडियो के साथ खेलना विशेष पसन्द करती हैं। दस वर्ष की अवस्था से बालको और बालिकाओ के खेलो मे प्रतियोगिता का भाव मिलने लगता है। अब वे अपने खेलो मे कुछ पूर्व-निर्धारित नियमो का पालन करना आवश्यक समझने लगते है। गुल्ली-डण्डा, हॉकी, फुटबाल, बैडमिण्टन, तैरना, दौडना तथा पेड पर चढना आदि उनके खेलो के प्रधान अग हुआ करते हैं। इन खेलो मे वे एक-दूसरे से अपनी श्रेष्ठता दिखलाना चाहते हैं। दस-बारह वर्ष की उम्र से लडको और लडकियो मे अपने खेल के क्रम मे तत्सम्बन्धी कला को सीखने की प्रवृत्ति आ जाती है। दस वर्ष की अवस्था से लडकियो के खेल मे लडको के खेल की अपेक्षा विशेष भिन्नता दिखलायी पडती है। घरेलू कार्यों मे उनकी रुचि बढने लगती है। सीना, बुनना, नाचना और गाना सीखना उनके खेल के अग होने लगते हैं—यद्यपि थोडे ही दिन मे ये सब खेल न होकर उनके लिए कार्य हो जाते हैं।

सामाजिक रुचियाँ

वालको की सामाजिक रुचियो का विकास यकायक नही हो जाता। वस्तुत इसका प्रारम्भ अन्य रुचियो ही के साथ होने लगता है। प्राय· यह देखा जाता है कि एक-डेढ साल का शिशु अकेले छोड देने पर रोने लगता है। पाँच-छ वर्ष का शिशु किसी मेले-समारोह अथवा उत्सव मे जाने के लिए हठ करते देखा जाता है। आठ-दस वर्ष का शिशु वाहर जाकर वहाँ की वातें समझना चाहता है। पूजास्थानो का वह निरीक्षण करना चाहता है। त्यौहारो के अवसर पर अपने घर सजाने मे उसे वडा आनन्द मिलता है। वालको की सामाजिक रुचियो के विकास मे वातावरण का विशेष हाथ रहता है। वातावरण जितना ही कुतूहलपूर्ण होता है, सामाजिक रुचियो को विकास का उतना ही अच्छा अवसर होता है।

पढने की रुचि

पढने की रुचि पर वालको का विकास वहुत हद तक निर्भर करता है। समुचित वातावरण के अभाव मे कुछ वालको मे पढने की रुचि का विकास नही हो पाता। फलत ऐसे वालको का व्यक्तित्व-विकास अधूरा रह जाता है। दस वर्ष के पहले-पहले वच्चो की कोई विशेष रुचि नही रहती। अव तक उनकी रुचि प्रधानत खेलो मे होती है। परन्तु दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था पर उचित वातावरण के मिलने पर उनकी पढने की रुचियो का विकास होने लगता है। पढने की रुचि के आधार पर उनके मानसिक विकास के स्तर का भी अनुमान लगाया जा सकता है। छ-सात वर्ष का वालक जानवरो-सम्बन्धी मनोरजक कहानियाँ पढना और सुनना चाहता है। तुकान्त गाने पढने और गाने मे उसे वडा आनन्द आता है। सात-आठ वर्ष के वालक मे प्रकृति-सम्वन्धी वातें पढने की रुचि आने लगती है। नदी, पहाड, जगल, समुद्र, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि के सम्वन्ध में वह जानना चाहता है और तत्सम्वन्धी मनोरजक कहानियाँ

श्रादि उसे मिल गई तो उन्हे वह वड़े चाव से पढता है । नवें वर्ष के हो जाने पर उसे प्राय कल्पनात्मक कहानियाँ श्रच्छी लगती हैं। परियो श्रौर शेखचिल्ली की कहानियाँ इस समय उसे वडी भाती हैं। ग्यारह वर्ष की श्रवस्था से उसमे जिज्ञासा-प्रवृत्ति विशेप क्रियाशील हो जाती है, श्रत इस समय वह श्राविष्कार तथा श्रन्य रहस्यपूर्ण वाते सुनना श्रौर पढना चाहता है । इसी समय उसमे प्रतियोगिता-भावना भी खूब होती है । श्रत. साहसपूर्ण कहानियाँ भी उसे वडी रुचिकर लगती हैं । लडकियो का सामाजिक विकास लडको से कुछ भिन्न होता है । श्रत उनकी पढने की रुचियाँ भी भिन्न होती है । दस-वारह वर्ष की लडकियाँ कौटुम्विक वातो वाली कहानियाँ पढना श्रधिक पसन्द करती है। जीवन-चरित्र श्रौर ऐतिहासिक कहानियाँ भी उन्हे श्रच्छी लगती है। किशोरावस्था के श्राते-श्राते लडके श्रौर लडकियो की रुचियो मे वडा श्रन्तर श्रा जाता है, क्योकि इस समय उनके जीवन की विभिन्न समस्याएं श्रपने वास्तविक रुचि की श्रोर सकेत करने लगती है। श्रत इन विभिन्न समस्याश्रो से सम्वन्धित ही उनकी पढने की रुचियाँ होती हैं ।

व्यावसायिक रुचि

शैशव श्रथवा वचपन मे वालक के व्यावसायिक रुचि का पता लगाना श्रत्यन्त कठिन है, क्योकि इस समय उसे जीवन की विभिन्न समस्याश्रो का विशेष ज्ञान नही रहता । परन्तु किशोर श्रर्थात् वारहवे या तेरहवे वर्ष के प्रारम्भ मे वह श्रपनी व्यावसायिक रुचि का कुछ-कुछ सकेत देने लगता है । व्यावसायिक रुचि के विकास मे माता-पिता के वातावरण का विशेष प्रभाव पडते दिखलाई पडता है । इसलिए तो प्राय यह देखा जाता है कि वढई का लडका लकडी के कार्य की श्रोर, सोनार का लडका सोनारी की श्रोर श्रपनी प्रवृति दिखलाता है। परन्तु माता-पिता के व्यवसाय को ही बालक को चुनने के लिए श्रभिप्रेरित नही करना चाहिए । उसे इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता देना श्रत्यन्त श्रावश्यक है। माता-पिता द्वारा इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार का दबाव हानिकारक होगा ।

अपराध और उपचार

अपराध और उपचार

वच्चे वहुधा वडे प्यारे लगते हैं और प्राय यह कहा जाता है कि वे वडे ही अच्छे है और उनका जीवन वडा ही सुखी है। परन्तु सभी वच्चो के विषय मे यह वात लागू नही होती। कुछ वच्चे ऐसे होते हैं जो वातावरण मे अपने को व्यवस्थित नही कर पाते। ऐसे वच्चे प्राय. ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं जिन्हे सामान्य नही कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनमे व्यक्तित्व-सम्वन्धी कुछ कठिनाइयाँ आ गई है। ऐसे वच्चे सवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ होते हैं और उन्हे 'समस्या वालको' (Problem children) की सज्ञा दी जा सकती है। यो तो कठिनाइयाँ और समस्याएँ सभी व्यक्तियो के अनुभव की वस्तु होती है, चाहे वे वच्चे, प्रौढ या वूढे हो परन्तु सवेगात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति अपनी समस्याओ का हल समाज द्वारा स्वीकृत साधनो के सहारे करना चाहता है। इसके विपरीत सवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्ति अपने आवेशवश किसी समय कुछ भी कर सकता है। आगे हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि सवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ वालक के असामान्य व्यवहार के कारण होते हैं और उनके दोषो को दूर करने के लिए किन-किन उपायो का अवलम्वन किया जा सकता है।

पुराने जमाने मे अपराधी वालक के असामान्य व्यवहार का कारण

किसी भूत-प्रेत अथवा शैतान को समझा जाता था। ऐसे बालको से लोग डरा करते थे और कभी-कभी उनकी पूजा भी किया करते थे। इसके विपरीत उन्हे कभी-कभी मार डालने की भी चेष्टा की जाती थी। परन्तु अपराधी बालको के प्रति आजकल ऐसा व्यवहार नही किया जाता। मनोवैज्ञानिक खोजो के फलस्वरूप अब उनके व्यवहार के कारण को समझने की उपयोगिता मान ली गयी है। पाश्चात्य देशो में तो अपराधी बालको के उपकार के लिए बडी-बडी सस्थाएँ सचालित की जा रही है और उनसे अपराधी बालको का बडा ही उपकार होता है।

बालकों का असमान्य व्यवहार

कुछ लोग असामान्य व्यवहार के कारण को शारीरिक मान बैठते हैं। कुछ बालको के सम्बन्ध मे यह ठीक भी हो सकता है, परन्तु कुछ के सम्बन्ध मे सवेगात्मक कुव्यवस्थापन ही प्रधान कारण हो सकता है। शारीरिक कारण के अन्तर्गत बुरा स्वास्थ्य शरीर की कोई विशिष्टि बनावट तथा ग्रन्थियो सम्बन्धी कुछ गडबडी आदि बातें आ सकती हैं। सवेगात्मक कुव्यवस्थापन का तात्पर्य बालक के प्रति दूसरो का दुर्व्यवहार और असहानुभूति से समझा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिको के अनुसार बालक के असामान्य व्यवहार के कारण शारीरिक और सवेगात्मक दोनो हो सकते हैं। सवेगात्मक कुव्यवस्था का कारण वातावरण हो सकता है। वातावरण-सम्बन्धी बातो मे अधोगलिखित बातें आ सकती है—(१) बुरा नैतिक वातावरण (२)माता-पिता अथवा दोनो का मानसिक असन्तुलन (३) अच्छी बातें सिखला सकने मे माता-पिता की अयोग्यता तथा झगडालू घर। जोर्डन, के अनुसार बालको के कुव्यवस्थापन के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं

(१) प्रौढो अथवा साथियो द्वारा चिढाया जाना अथवा उनकी वास्तविक कल्पित उदासीनता जिससे आत्महीनता की भावना बालक मे आ जाती है।

(२) काम-मूल प्रवृत्यात्मक किसी दोष के कारण मन मे पाप-भावना का जमना ।

(३) कोई ऐसा शारीरिक दोष जिससे वालक अपने को कुरूप समझने लगे ।

(४) माता-पिता द्वारा अत्यधिक लाड प्यार के कारण निकटवर्ती सामाजिक कार्यों मे हाथ न वटा सकना ।

(५) स्कूल मे असफलता के कारण दूसरे वालको द्वारा अपमानित होना ।

(६) भय उत्पन्न करने वाले सवेगात्मक धक्के ।

(७) स्नायविक दुर्वलता से पीडित माता-पिता अथवा सम्वन्धियो की उपस्थिति ।

(८) लगातार उद्दीपन, जैसे नित्य सिनेमा देखना ।

(९) माता-पिता द्वारा वडी-वडी ऐसी अपेक्षाएँ जिन्हे भौतिक साधनो से न पूरा किया जा सके ।

(१०) माता-पिता के आपसी झगडे ।

(११) माता-पिता से समुचित प्यार का न मिलना ।

(१२) माता-पिता के द्वारा एक-दूसरे का तलाक, जव कि वालक दोनो को वहुत अधिक प्यार करता है ।

(१३) कौटुम्विक आर्थिक अवस्था के खराव होने के कारण अपने को अरक्षित समझना ।

(१४) कुटुम्व के अन्य सदस्यो से हतोत्साहित करने वाली तुलना करना ।

(१५) कुटुम्व की आकाक्षाओ के अनुसार उन्नति करने मे असमर्थ होना । उपर्युक्त वातो से यह जान पडता है कि वालक के पालन-पोषण तथा विकास पर उसके सामाजिक वातावरण का वडा ही प्रभाव पड़ता है । इस सामाजिक वातावरण मे माता-पिता तथा पडोसी और साथियो द्वारा प्राप्त व्यवहार का विशेष महत्व होता है ।

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना

अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बालक को दूसरो पर आश्रित रहना पडता है। फलतः उसे दूसरो के अनुसार भी अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करनी होती है। इन आवश्यकताओ का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) शारीरिक जैसे भोजन, जल, नीद तथा अन्य शारीरिक सुविधाएँ, (२) आत्म-सम्बन्धी—जैसे दूसरो से प्रशंसा, राय तथा अपनत्व की भावना पाने की इच्छा, (३) सामाजिक—जैसे दूसरो के कार्यों मे हाथ बटाने के हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा। ये स्वाभाविक आवश्यकतायें बालको के विभिन्न व्यवहार और कार्यो को लिए अभिप्रेरणाएँ हो जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओ की क्रियाशीलता मे जब कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है तो बालक एक तनाव मे आ जाता है। यदि यह तनाव गहरा हुआ और यदि उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं होती तो उसके व्यवहार अवाछित रुख लेने लगते हैं। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-व्यवस्थापन इन आवश्यकताओ की समुचित पूर्ति पर निर्भर करता है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रयास मे अभिभावको को यह भी याद रखना है कि उनकी अत्यधिक पूर्ति भी व्यक्तित्व के सन्तुलन को उसी प्रकार बिगाड सकती है जैसे उनका अवदमन व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालक का स्वास्थ्य-विकास उसकी आवश्यकताओ की सन्तुलित पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती तो बालक के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास न होगा। उलझनो और भग्नाशाओ का सामना तो सभी बालको को कुछ-न-कुछ करना ही होता है, परन्तु इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है तो बालक अपराधी होने की ओर झुक सकता है। जैसे भोजन के न मिलने से

शरीर जर्जरित होने लगता है उसी प्रकार बालक का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है, जब उसकी विविध मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती। यदि उसकी आवश्यकताओ की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज मे सुखी बालको की सख्या बढ जाए और दु खी तथा अपराधी बालको की सख्या घट जाए। परन्तु बालको की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो पाती, क्योकि उनकी पूर्ति करने मे प्रौढो को थोडा आत्म-नियन्त्रण करना होता है और वे इस आत्म-नियन्त्रण मे सफल नही होते। इच्छाओ के दमन का कुपरिणाम विविध बालको पर विभिन्न प्रकार से पडता है। कुछ बहुत ही साधारण बातो से ही अव्यवस्थित हो जाते हैं और कुछ पर बडी गहरी-गहरी बातो का भी विशेष प्रभाव पडते नही दिखलाई पडता। परन्तु हमे यह तो मानना ही पडेगा कि सभी बालक उन आवश्यकताओ की पूर्ति चाहते है जिनके लिए आज तक मानव आपस मे सघर्ष करता रहा है। अत. जो बालको के प्रति उत्तरदायी है उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि बालक के साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसा वे दूसरो से अपने लिए चाहते हैं।

अपराधी बालको के उत्पन्न करने वाले उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारणो की चर्चा के बाद हम नीचे उन कारणो पर दृष्टिपात करेंगे जो घर, बाह्य वातावरण तथा व्यक्तिगत बातो से सम्बन्ध रखते हैं।

किसी अपराधी बालक को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है। घर, स्कूल, साथी, पडोसी, कार्य-काल तथा अवकाश, समय आदि सभी बातो का बालको के व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पडता है। वर्तमान परिस्थितियो के आधार पर ही किसी अपराधी बालक के सम्बन्ध मे कुछ निर्णय कर लेना ठीक न होगा, क्योकि जो भूतकाल मे हो चुका है उनका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना

अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वालक को दूसरो पर आश्रित रहना पडता है। फलतः उसे दूसरो के अनुसार भी अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करनी होती है। इन आवश्यकताओ का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) शारीरिक जैसे भोजन, जल, नीद तथा अन्य शारीरिक सुविधाएँ, (२) आत्म-सम्वन्धी—जैसे दूसरो से प्रशसा, राय तथा अपनत्व की भावना पाने की इच्छा, (३) सामाजिक—जैसे दूसरो के कार्यों मे हाथ वटाने के हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा। ये स्वाभाविक आवश्यकतायें वालको के विभिन्न व्यवहार और कार्यो को लिए अभिप्रेरणाएँ हो जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओ की क्रियाशीलता मे जव कभी किसी प्रकार की वाधा उपस्थित होती है तो वालक एक तनाव मे आ जाता है। यदि यह तनाव गहरा हुआ और यदि उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती तो उसके व्यवहार अवाछित रुख लेने लगते हैं। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-व्यवस्थापन इन आवश्यकताओ की समुचित पूर्ति पर निर्भर करता है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रयास मे अभिभावको को यह भी याद रखना है कि उनकी अत्यधिक पूर्ति भी व्यक्तित्व के सन्तुलन को उसी प्रकार विगाड सकती है जैसे उनका अवदमन व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वालक का स्वास्थ्य-विकास उसकी आवश्यकताओ की सन्तुलित पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि वालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती तो बालक के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास न होगा। उलझनो और भग्नाशाओ का सामना तो सभी बालको को कुछ-न-कुछ करना ही होता है, परन्तु इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है तो बालक अपराधी होने की ओर झुक सकता है। जैसे भोजन के न मिलने से

शरीर जर्जरित होने लगता है उसी प्रकार बालक का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है, जब उसकी विविध मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही होती। यदि उसकी आवश्यकताओ की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज मे सुखी बालको की सख्या बढ जाए और दु खी तथा अपराधी बालको की सख्या घट जाए। परन्तु बालको की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो पाती, क्योकि उनकी पूर्ति करने मे प्रौढो को थोडा आत्म-नियन्त्रण करना होता है और वे इस आत्म-नियन्त्रण मे सफल नही होते। इच्छाओ के दमन का कुपरिणाम विविध बालको पर विभिन्न प्रकार से पडता है। कुछ बहुत ही साधारण बातो से ही अव्यवस्थित हो जाते हैं और कुछ पर बडी गहरी-गहरी बातो का भी विशेष प्रभाव पडते नही दिखलाई पडता। परन्तु हमे यह तो मानना ही पडेगा कि सभी बालक उन आवश्यकताओ की पूर्ति चाहते हैं जिनके लिए आज तक मानव आपस मे सघर्ष करता रहा है। अत जो बालको के प्रति उत्तरदायी हैं उनका यह कर्तव्य हो जाता है कि बालक के साथ वैसा ही व्यवहार करें, जैसा वे दूसरो से अपने लिए चाहते हैं।

अपराधी बालको के उत्पन्न करने वाले उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारणो की चर्चा के बाद हम नीचे उन कारणो पर दृष्टिपात करेंगे जो घर, बाह्य वातावरण तथा व्यक्तिगत बातो से सम्बन्ध रखते हैं।

किसी अपराधी बालक को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है। घर, स्कूल, साथी, पडोसी, कार्य-काल तथा अवकाश, समय आदि सभी बातो का बालको के व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पडता है। वर्तमान परिस्थितियो के आधार पर ही किसी अपराधी बालक के सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर लेना ठीक न होगा, क्योकि जो भूतकाल मे हो चुका है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थायी

रूप से जमा रहता है। अत याद रखना है कि जन्म से ही कोई बालक अपराधी नही होता। उसके अपराधी होने का प्रधान कारण उसकी परस्थितियाँ ही होती है। केवल बाह्य रूप के देखने से ही अपराधी बालक को पहचान लेना अत्यन्त कठिन है; क्योकि किसी सामान्य बालक और उसमे बाह्यत कोई अन्तर नही दिखलाई पडता। किसी अपराधी बालक के समझने तथा उसके उद्धार के लिए हम उसके वशानुक्रम सामाजिक इतिहास तथा तात्कालिक उत्पादक परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। उसके अपराधी होने मे ये सभी कारण अपना-अपना योग देते हैं। स्पष्ट है कि अपराधी बालक एक सामाजिक समस्या है और समाज को दृष्टि मे रखते हुए उसके सुधार के उपयोगो की खोज हमे करनी है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अपराधी बालक के अवगुण जन्मजात नही होते और उसके ऐसे होने के कई कारण हो सकते हैं। अत. अपराधी बालक के किसी व्यवहार को समझने के लिए हमे कई दृष्टिकोणो को अपनाना होगा। नीचे हम ऐसे ही कुछ दृष्टिकोण पर अति सक्षेप मे प्रकाश डाल रहे हैं। इन दृष्टिकोणो की चर्चा मे घर, बाह्य वातावरण तथा कुछ व्यक्तिगत बातो पर विशेष ध्यान दिया जाएगा।

घरेलू कारण

प्रायः यह सोचा जाता है कि गरीबी बालक को अपराधी बना देती है। बालक के अपराधी बनने मे गरीबी का प्रभाव अवश्य पडता है, क्योकि गरीबी के कारस उसकी बहुत-सी इच्छाओ की पूर्ति नही हो पाती, और अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए वह अनैतिक साधनो की ओर झुक जाता है। न्यायालय मे जितने अपराधी बालक उपस्थित किए जाते है उनमे अधिकाश गरीब कुटुम्ब वाले होते हैं। परन्तु हमे यह भी याद रखना है कि धनी घर के अपराधी बालक न्यायालय मे बहुत ही कम लाए जाते हैं, क्योकि उनके अभिभावक स्वय उस सम्बन्ध मे आवश्यक

उपचार करने की चेष्टा करते हैं।

माता-पिता की बीमारी के कारण बच्चे प्राय भूखे रह जाते है और वे अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भीख माँगने, चोरी करने तथा कुछ ऐसे कार्यों को करने की ओर झुक सकते हैं जिनसे घर का सारा वातावरण दूषित हो सकता है। ऐसी स्थिति के आ जाने पर लडके घर छोडकर वाहर चले जाना पसन्द करते हैं। वाहर जाकर वे घर की आर्थिक स्थिति के सुधारने का कुछ प्रयत्न भी कर सकते हैं। इस प्रयत्न मे वे अनैतिक साधनो का सहारा ले सकते हैं। यदि माँ को घर मे छोटे-छोटे बच्चो को छोडकर वाहर नौकरी अथवा मजदूरी करने जाना होता है तो इसका प्रभाव नियन्त्रणहीन वालको पर वुरा पड सकता है। माँ की अनुपस्थिति मे लडके मनमानी करने लगते हैं और ऐसी आदतें सीख सकते है जो वाद मे उन्हे अपराध करने की ओर अभिप्रेरित कर सकती हैं।

अपराधी वालको के अध्ययन मे देखा गया है कि पिता के कडे नियत्रण मे रहने वाले लडके वहुधा अपरावी की कोटि मे आ जाते हैं। पिता के कडे नियत्रण से उनकी स्वाभाविक इच्छाओ का दमन होता है। इस दमन के कुपरिणाम की ओर माँ-वाप का ध्यान वहुत कम जाता है। वे सोच ही नही पाते कि वच्चो के साथ वे कर क्या रहे हैं। दमन का परिणाम कभी स्वस्थकर नही होता। इससे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छाओ की पूर्ति चुपके-चुपके अनैतिक साधनो के सहारे करने की ओर झुक सकता है। पिता के अधिकारवाद का मन-ही-मन अथवा स्पष्टत विरोध करते-करते उसमे सभी प्रकार के अधिकारियो के विरुद्ध हो जाने की प्रवृत्ति आ सकती है। इन प्रवृत्तियो के कारण कोई अपराध कर वैठना उसके लिए सरल हो सकता है।

पति-पत्नी के आपसी झगडे का वालक पर वुरा प्रभाव पडता है। जिन घरो मे ऐसे झगडे आए दिन हुआ करते हैं उनके लड़के अपने को अरक्षित समझने लगते हैं। इस अरक्षित-भावना को दूर करने के लिए

वे चोरी करना प्रारम्भ कर देते है, क्योंकि चोरी से प्राप्त वस्तुओ से वे अपनी स्थिति मजबूत बनाना चाहते हैं। यदि माता पिता के झगडे के कारण उन्हे घर मे शान्ति नही मिल सकती तो वे शान्ति तथा अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बाहर चले जाना अच्छा समझते हैं। इस प्रकार का बाहर जाना उनके नैतिक विकास मे बन्धन हो सकता है। बाल-निर्देशन केन्द्रो का यह अनुभव है कि व्यवहार-सम्बन्धी समस्याओ वाले बालको मे घरेलू वातावरण मे सुधार कर देने मे स्वत बडे सुधार आ जाते हैं।

घर मे सौतेली माँ अथवा सौतेले पिता की उपस्थिति का बालको के विकास पर अवाछित प्रभाव पड सकता है। जब सौतेली माँ अथवा सौतेले पिता के कारण बालक पहले जैसा प्यार नही पाता तो उसमे सवेगात्मक तनाव आ जाता है और वह अपराध की ओर झुक जाता है।

घर के विभिन्न बालको को दो आँख से देखने से बालको मे परस्पर ईर्ष्या और वैमनस्यता आ जाती है। जब एक लडके की दूसरे के सामने सदा प्रशसा की जाती है तो अप्रशसित बालक के ही नही, वरन् प्रशसा करने वाले के भी विरोधी हो जाते हैं। इस विरोध मे वे कुछ ऐसा करने की चेष्टा मे आ सकते हैं जिससे उन्हे कुछ प्रशसा मिले। इस चेष्टा मे उनका व्यवहार अनैतिक हो सकता है। जिन लडको को घर मे यथोचित प्यार नही मिलता उनके मन मे असामाजिक भावना-ग्रन्थियाँ घर करने लगती हैं। ये भावना-ग्रन्थियाँ साधारण-से उद्दीपक के उपस्थित होने पर अवाछित व्यवहार की ओर व्यक्ति को अभिप्रेरित कर देती हैं। जिन लडकियो को घर मे प्यार नही मिलता वे काम-भावना-सम्बन्धी अनैतिक व्यवहार की शिकार हुआ करती हैं। वे प्यार और सम्मान की भूखी हो जाती हैं और जो व्यक्ति उन्हे तात्कालिक ध्यान और सम्मान देने को तैयार होता है उस पर वे सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाती हैं।

अत्यधिक लाड-प्यार का भी परिणाम बहुधा अवाछित ही होता है। जिन वच्चो की प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है और जिनके प्रत्येक इशारे पर नाचने के लिए सभी हर समय तैयार रहते हैं उनकी दशा वास्तव मे आगे चल कर दयनीय हो जाती है। घर मे तो उनकी किसी प्रकार निभ जाती है, परन्तु उनका वाहर निभना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योकि वाहर समाज मे उन्हे घर—जैसा प्यार नही मिलता। ऐसे वच्चे किशोर मे अपनी प्रवृत्तियो के जीव हो जाते हैं और जो ही मन मे आता है उसी के अनुसार आचरण दिखलाने लगते है। 'वाल निर्देशक केन्द्रो' द्वारा अन्वेषण से पता चला है कि ऐसे लडके बहुधा चोरी के अपराधी पाए जाते हैं।

जिन घरो मे शरावखोरी, अनैतिकता तथा निर्दयता का वातावरण वना रहता है उनके लडके बहुधा विभिन्न प्रकार के अपराध करते पाए जाते हैं। यह इतनी स्पष्ट वात है कि इसके लिए उदाहरण की आवश्यकता नही। कुछ ऐसे गरीव, अनैतिक और निर्दयी माता-पिता होते हैं जो अपने वच्चो को भीख माँगने अथवा चोरी करने के लिए विवश किया करते हैं।

अपराधी बनाने वाले अन्य कारण

प्राय प्रत्येक शहर मे कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनमे विशेषत ऐसे गरीव लोग रहते हैं जिनका रहन-सहन नैतिक नही कहा जा सकता। ऐसे लोगो के घरो के लडके प्राय अनैतिक कामो मे लग जाते हैं, क्योकि उनका वातावरण ही वडा अनैतिक होता है। मनोरजन के लिए बुरे स्थान, जुआ खेलने का स्थान तथा वेश्यालय आदि उनके अनुभव के अग होने लगते हैं, क्योकि वातावरण मे उपस्थित इन स्थानो का प्रभाव उन के चरित्र पर पडे विना नही रहता।

अपराधी वालको के अध्ययन से पता चला है कि एक वालक दूसरो को किसी अनैतिक कार्य मे लगने के लिए उत्साहित करता है और अन्य

अपराधी बालक अपना एक समूह बनाकर अनैतिक व्यवहार के भागी होते हैं। यह अनैतिक व्यवहार ऐसा होता है कि जिसे कदाचित कोई बालक अकेले करने का साहस न करता। ऐसे अनैतिक व्यवहार मे रेल-गाडी पर पत्थर फेकना, बिना टिकट रेल-यात्रा करना, वर्जित जला-शयो मे तैरना, वर्जित स्थान पर ऊधम मचाना तथा कही आग लगा देना आदि हो सकते हैं।

इस सामूहिक अनैतिक व्यवहार से यह जान पडता है कि यदि इन बालको को अपने अवकाश-काल को बिताने का समुचित और स्वस्थकर साधन दिया जाता तो कदाचित् वे ऐसे कार्यो मे न लगते। अत समाज का यह कर्तव्य है कि वह बालको के अवकाश-काल के उपयोग के लिए उचित साधनो का आयोजन करे। इस सम्बन्ध मे स्कूल का भी कुछ कर्तव्य दिखलाई पडता है। 'सब धान बाइस पसेरी' की तरह बालको की शिक्षा का आयोजन करना मनोवैज्ञानिक नही। शिक्षा मे वैयक्तिक वैभिन्य पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे बालको की विशिष्ट शक्तियो का विकास होगा और उनकी विभिन्न मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओ की पूर्ति होती रहेगी। यदि शिक्षा-क्रम मे इस प्रकार का सुधार लाया जा सका तो अपराधी बालको की सख्या कम करने मे बडी सहायता मिलेगी।

फैक्टरी मे काम करने वाले बालको की भी दशा दयनीय होती है। फैक्टरी मे उन्हे मशीन की तरह काम करना होता है। उनकी सभी कोमल भावनाओ पर तुषारपात हो जाता है। फलतः वे फैक्टरी मे कार्य करने के बाद अनैतिक रूप मे अपने अवकाश-काल को बिताने की ओर झुकते है। अपने मनोरजन के लिए वे अवाछित स्थानो पर जाते हैं। इन स्थानो का उनकी नैतिकता पर बडा बुरा प्रभाव पडता है।

व्यक्तिगत कारण

किसी शारीरिक दोष के कारण बालक का कोई अनैतिक व्यवहार अवश्यम्भावी नही, परन्तु शारीरिक दोष के कारण जो वह दूसरो का

व्यंग सुना करता है, उससे उसमे असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ सकती है। उदाहरणार्थ जो बालक सदैव बीमार रहा करता है उसमे एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ सकती है और मन-ही-मन उन बालको के प्रति विरोध-भावना ला सकता है जो प्राय स्वस्थतर होते हैं। ऐसे बालक का अन्य बालको के साथ निभना कठिन हो जाता है। मन्दगति से विकसित होने वाला बालक अपने को छोटा और तीव्रगति वाला अपने को बडा पाता है। ऐसी स्थिति मे दोनो मे एक प्रकार का ऐसा मानसिक असन्तोष उत्पन्न होता है जिससे अनैतिक व्यवहार की ओर झुकना कठिन नही होता। तीव्रगति से विकसित होने वाला बालक अपने से छोटे बालको को विविध प्रकार से तग कर सकता है, और मन्दगति वाला अपनी आत्महीनता-भावना के प्रतिक्रिया-स्वरूप अनैतिक व्यवहार दिखला सकता है।

किशोरावस्था मे काम-सम्बन्धी भावनाओ के विकास के कारण लडके और लडकियाँ काम-सम्बन्धी बाते जानने की इच्छुक हो जाती हैं। माता-पिता अथवा अध्यापक इस सम्बन्ध मे उनकी जिज्ञासाएँ शान्त करने का साहस नही करते और किशोर भी इस सम्बन्ध मे अपनी बाते उनसे कहने मे बडा सकोच करते हैं। फलतः अपनी जिज्ञासाओ की पूर्ति करने के लिए वे अनैतिक साधनो का अवलम्बन लेते है।

बहुत से अन्वेषको का कहना है कि दोषयुक्त व्यवहार और मानसिक विकास की मन्दता मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध की यहाँ व्याख्या करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। परन्तु इस सम्बन्ध मे इतना कह देना आवश्यक है कि मन्द बालक मे अनैतिक प्रलोभनों से अपने को बचाने का सामान्य बालको की अपेक्षा कम सामर्थ्य होता है। अत समाज का यह कर्तव्य है कि ऐसे बालको की रक्षा के लिए आवश्यक उपायो का आयोजन करे।

उपर्युक्त विवेचन से यह जान पडता है कि बालक के अनैतिक व्यवहार के कई कारण हो सकते है और जो कारण स्पष्टत दिखलाई पडता

है वह वास्तविक हो भी नही सकता । इस वस्तुस्थिति के कारण ही अपराधी बालको के उपचार मे अभी तक पर्याप्त सफलता नही प्राप्त हो सकी है । बालक के किसी अनैतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक, घरेलू, बाह्य वातावरण-सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत कारणो को समझे बिना ही उसके सुधार के लिए उसे किसी सस्था को सुपुर्द कर देना ठीक सही । उसके सुधार के कार्यों मे माता-पिता, अध्यापको तथा निकटवर्ती समाज की सहायता अत्यन्त आवश्यक है । यदि वह सहायता ठीक से नही दी जा सकी तो अपराधी बालक भविष्य मे प्रौढ अपराधियो की कोटि में आकर समाज को पीडा देने लगेंगा । नीचे हम देखेंगे कि अपराधी बालको के सुधार के लिए किन-किन उपायो का आलम्बन किया जा सकता है ।

उपचार

ऊपर कहा गया है कि बालको के अपराधी व्तवहार के कई कारण हो सकते है । स्पष्ट है कि उनके उपचार के लिए किसी एक साधन का उल्लेख नही किया जा सकता । विभिन्न बालको के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनो का आयोजन करना आवश्यक होगा । अपराधी बालकों का पता लगाना और पकडना पुलिस के हाथ की बात होती है । अत' पुलिस को अपराधी बालको वाले न्यायालयो के कार्य-सिद्धान्त को अच्छी प्रकार समझना चाहिए कि अपराधी बालको के साथ कडाई दिखलाई तो न्यायाधीश के पुचकारने पर भी बालक अपने सम्बन्ध मे ठीक-ठीक बातें न बतला सकेगा, क्योकि तब उसके मन मे न्यायालय की पूरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे एक विरोध-भावना उत्पन्न हो जाएगी । यदि अपराधी बालक हवालात मे रखा जाता है तो उसे प्रौढ अपराधियो के सम्पर्क से दूर रखना चाहिए । उसकी उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए जैसे एक पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है । अपराधी को पकड लेने के बाद पुलिस अधिकारियो का यह कर्त्तव्य है कि वे माता-पिता को शीघ्र

सूचित कर दें और इस सम्बन्ध मे उनकी सहानुभूति के लिए अनुरोध करें, क्योकि बालक के अपराध करने मे घर का वातावरण भी कुछ हद तक उत्तरदायी हो सकता है। अपराधी बालक को सदा न्यायालय मे ही उपस्थित करना आवश्यक नही समझना चाहिए। यदि इसके बिना ही उचित व्यवस्थापन सम्भव है तो अत्युत्तम होगा। यदि न्यायालय मे लाना आवश्यक हुआ तो यथासम्भव उसे तब तक माता-पिता के साथ ही रहने देना चाहिए जब तक उसके मामले का निर्णय नही हो जाता।

अपराधी बालक के अध्ययन मे उसके सामाजिक इतिहास तथा शारीरिक और मनोविश्लेषणात्मक अन्वेषण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। न्यायाधीश को बाल और किशोर मनोविज्ञान का पूरा ज्ञान होना चाहिए। अच्छा होगा यदि लडकियो से सम्बन्धित बातो को जानने के लिए किसी योग्य महिला को नियुक्त कर दिया जाए। इस प्रकार के अन्वेषण मे पूर्ण वातावरण सहानुभूति-पूर्ण होना चाहिए। अपराधी बालक अथवा बालिका में आत्म-विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उनके साथ अपराधी-जैसा व्यवहार नही करना चाहिए। उन्हे समाज का ऐसा सदस्य समझना चाहिए जिन्हे निर्देशन, सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता है। उनके मामलो को सुनने के लिए न्यायालय मे जनता का इकट्ठा होना अमनोवैज्ञानिक है। अन्त से यथासम्भव वालक को माता-पिता की ही देख-रेख मे दे देना चाहिए। उस राजकीय सस्था मे वालक के लिए कुछ प्रवन्ध किया जाता है तो उस सम्वन्ध मे कुटुम्व वालो की राय वडी ही सहायक होगी।

अपराधी बालको के उपचार के सम्वन्ध मे माता-पिता का भी मनोवैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक होगा। यदि किसी घरेलू कारण से बालक अपराध करने की ओर झुका तो उस कारण को पूरा करना आवश्यक होगा। यदि पिता वेकार है और अपने वालको को पैसा कमाने के लिए विवश करता है और इस विशेषता के कारण वालक अपराध

करने को वाध्य होता है तो पिता को किसी लाभप्रद कार्य मे लगा देना चाहिए। यदि पिता किसी सवेगात्मक अव्यवस्थापन का अभियुक्त है और उसके अत्याचार के कारण बालक अनैतिक आचरण दिखलाते हैं तो पिता की मानमिक चिकित्सा करना आवश्यक है।

अपराधी बालको के उपचार के सम्बन्ध मे वेकर फाउण्डेशन वोस्टन, यू० यस० ए० ने कुछ सुझावो का प्रतिपादन किया है। इन सुझावो का नीचे सक्षेप मे उल्लेख किया जा रहा है —

१ बालक की रुचियो के साथ माता-पिता की सहानुभूति
२ माता-पिता का अपने व्यवहार मे कडा न होना।
३ बालक की शारीरिक और मानसिक सीमाओ को समझना।
४ निर्दयता को वन्द करना।
५. कोसना वन्द करना।
६ रिआयते देना।
७. माता-पिता को अपने उत्तरदायित्व को निभाना।
८ अच्छा निरीक्षण करना।
९ बालक के उपचार को मामूली न समझना।
१० कौटुम्बिक गलतफहमी को दूर करना।
११ काम-सम्बन्धी भावनाओ के प्रति माता-पिता का मनोवैज्ञानिक और स्वस्थ विचार रखना तथा इस सम्बन्ध मे बालक और बालिकाओ की जिज्ञासाओ को शान्त करना।
१२ उचित घरेलू वातावरण उत्पन्न करना।
१३ कुटुम्ब के अन्य सदस्यो के अनैतिक व्यवहार को बन्द करना।
१४ कुटुम्ब से उन सम्बन्धियो को निकाल देना जिनका बालको पर वुरा प्रभाव पडता है।

बालक के अनैतिक अथवा नैतिक व्यवहार पर स्कूल का भी बड़ा प्रभाव पडता है। अतः अपराधी बालको के उपचार के सम्बन्ध मे स्कूल के उत्तरदायित्व की उपेक्षा नही की जा सकती। इस ओर ऊपर सकेत

किया जा चुका है ।

यदि स्कूल मे बालक बुरे लोगो के सग मे आ गया है तो उसे दूसरे स्कूल मे स्थानान्तरित कर देना चाहिए। यदि बालक किसी विषय मे कमजोर है और कक्षा से भागकर अनैतिक काम मे लग जाता है तो उस विषय मे उसे कुछ अधिक सहायता देने का कुछ आयोजन करना चाहिए। इस आयोजन मे सहानुभूति का होना आवश्यक है।

यदि अपराधी बालक के लिए किसी कार्य की आवश्यकता है तो इसके लिए शीघ्र ही प्रबन्ध करना चाहिए। यदि अवकाश-काल के बिताने के लिए स्वस्थकर साधनो की आवश्यकता जान पडे तो तदनुसार प्रबन्ध करना चाहिए।

अपराधी बालको के उपचार का प्रधान उद्देश्य उनके अच्छे चरित्र-निर्माण का है। अत इस उपचार के क्रम मे सम्बन्धित व्यक्तियो को देखना चाहिए कि बालक का सवेगात्मक तथा मानसिक विकास इस प्रकार हो कि उसमे अच्छी आदतें आ जाएँ।

यदि अपराधी बालको को राजकीय सस्थाओ मे रखना आवश्यक ही जान पडे तो इन सस्थाओ का रूप घर के समान होना चाहिए। इनमे बालको के ऊपर किसी प्रकार का अनुचित नियत्रण नही होना चाहिए। सारा व्यवहार सहानुभूति के रस से सना होना चाहिए। ऐसी सस्थाओ का उद्देश्य समाज को योग्य सदस्यो को देना है। इस उद्देश्य मे वे तभी सफल हो सकती है यदि वे मनोवैज्ञानिक रीतियो का सहारा लेती हैं।

अपराध-प्रवृत्ति को रोकने के उपाय

बालको की अपराध-प्रवृत्ति को रोकने के लिए किसी एक ऐसे उपाय की चर्चा नही की जा सकती जो कि स्थिति मे लागू हो, क्योकि उनकी अपराध प्रवृत्ति के कई कारण होते हैं। इस सम्बन्ध मे जो रुचि रखते हैं उन्हे इस क्षेत्र के सभी उपलब्ध साहित्य से परिचित होना चाहिए

जिससे इस सम्वन्ध वाली आधुनिक विचार-धारा से वे अवगत रहे। इसके वाद उन्हे यह समझना है कि अपराधी वालको की मानसिक और सवेगात्मक स्थिति तथा कुछ अन्य सामाजिक वाते प्रस्तुत समस्या की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोनो वातो को निश्चित रेखा से अलग नही किया जा सकता, क्योकि दोनो एक-दूसरे पर निर्भर होती हैं। परन्तु दोनो को अलग-अलग समझ लेना समस्या के निराकरण मे वडा सहायक होगा।

वस्तुत' अपराध-प्रवृत्ति को रोकने का कार्य वालक के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ कर देना चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि जो पति-पत्नी विषम मानसिक रोगो से पीडित है उन्हे सन्तानोत्पादक शक्ति से हीन कर दे। इस सम्बन्ध मे कुछ वैज्ञानिक साधनो का आविष्कार किया जा चुका है।

शिशु के गर्भ मे आ जाने के वाद माता के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिससे शिशु का स्वास्थ्य वुरा न हो। जन्म के वाद लालन-पालन इस प्रकार का हो कि शिशु अच्छी ही आदतो को अपनाये। इस सम्वन्ध मे नर्सरी स्कूलो की उपयोगिता की ओर सकेत किया जा सकता है।

समय-समय पर स्कूल के अध्यापको को लडको के घर जाते रहने की एक निश्चित व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वे वच्चो के लालन-पालन मे माता-पिता की आवश्यक मनोवैज्ञानिक सहायता कर सकें। विकासावस्थानुसार वालक और वालिकाओ की काम-मूल-प्रवृत्ति सम्बन्धी जिज्ञासाओ को सन्तुष्ट करते रहना चाहिए जिससे उनकी सन्तुष्टि के लिए वे अवाछित साधनो का सहारा न ले।

बहुधा यह देखा जाता है कि माता-पिता की गरीबी के कारण वालको को उन धन्धो मे जाना पडता है जिनके लिए उनमे रुचि नही होती। इसका फल साधारणत अपराध-प्रवृत्ति का उत्पन्न करना ही होता है। अत व्यावसायिक निर्देशन का कार्य-क्रम इस सम्वन्ध मे वडा

सहायक हो सकता है, क्योकि इससे बालको को मनोवाछित धन्धा पाने मे बडी सहायता मिलेगी ।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अवकाश-काल के दुरुपयोग से बालको मे अपराध-प्रवृत्ति बढती है। अत अवकाश-काल के सदुपयोग तथा मनोरजन के लिए स्वस्थ साधनो का आयोजन करना अत्यन्त आवश्यक है। बालको के लिए क्लब अथवा गोष्ठी तथा स्काउटिंग आदि का प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे अपनी विकासावस्थानुसार वे सामूहिक खेलो मे भाग ले सकें।

राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नियुक्त पुलिस अधिकारियो द्वारा उन स्थानो का निरीक्षण करता रहे जो मनोरजन के सस्ते व्यापारिक साधनो का आयोजन करते हैं और अबोध बालक और बालिकाओ को फँसाते हैं। जो व्यक्ति अवाछित प्रवृत्ति के होते हैं उन पर भी पुलिस की कडी निगरानी होनी चाहिए।

हमारे देश के कुछ बडे-बडे शहरो मे बच्चो द्वारा भीख मँगवाने की समस्या बडी कठिन होती जा रही है। इन भीख माँगने वाले बच्चो का अपराध-प्रवृत्ति का अपनाना कठिन नही होता। अच्छा होगा यदि उन बच्चो को कोई कार्य दिया जाए और कानून द्वारा भीख माँगना अवैधानिक बना दिया जाए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपराधी बालको के उद्धार के लिए हमे कई प्रकार के कार्य करने होगे और इसमे माता-पिता, अध्यापक, स्कूल, समाज तथा राज्याधिकारी सभी का अपना-अपना कर्तव्य है। यदि सभी अपने-अपने कर्तव्य पर ध्यान दें तो उनका उद्धार करना कठिन न होगा।

सामाजिक चेतना का विकास

व्यक्ति के रूप मे वालक के व्यक्तित्व का विकास वहुत अशो मे एक सामाजिक व्यक्ति की दृष्टि से उसके विकास पर निर्भर करता है। एक व्यक्ति निर्जन स्थान मे जीवित नही रह सकता। जव वह समाज के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करता है, अथवा उसका प्रयत्न करता है, या जव उसकी अन्य व्यक्तियो से तुलना की जाती है, उसका व्यत्तित्व और स्पष्ट हो उठता है। अलेक्जेंडर शलकिर्क और राविसन क्रूसो जव निर्जन द्वीप मे पहुँच जाते हैं, हम उन्हे सत्यवादी या गुणवान नही कह सकते हैं। क्योकि जव वहाँ दूसरा कोई व्यक्ति था ही नही, तव झूठ या सच वोलने का कोई अवसर ही नही उत्पन्न होता। यह समाज ही है जो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, गुण और चरित्र का निश्चय करती है। जैसे-जैसे वालक उन्नति करता है, उसकी समाज मे अन्य व्यक्तियो से सम्पर्क स्थापित करने की योग्यता भी बढती है। इस प्रकार वह शारीरिक और सामाजिक दोनो प्रकार से समायोजन करने का प्रयत्न करता । जितना अधिक वह समायोजन कर पाता है, उतना ही उसका व्यक्तित्व विकसित होता है, तथा वर्ग के मध्य उसकी अकेली सत्ता के साथ, विकास होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यथार्थ मे वालक का सामाजिक मण्डल ही उसके व्यक्तित्व और उसकी सत्ता के विकास मे सहायक होता है।

सम्भवतः जन्म के समय वालक को सामाजिक चेतना नही होती है। उसकी समस्त आवश्यकताएँ माँ के द्वारा ही पूरी हो जाती हैं।

अर्थात् उसका जीवन ही माँ पर निर्भर होता है। सामाजिक सम्बन्ध का सम्भवतः यह नितान्त प्रारम्भिक रूप होता है। इसमे माता और सन्तान दो प्राणी होते हैं। धीरे-धीरे बालक केवल माता ही नही वरन् अन्य व्यक्तियो के साथ अपना सामाजिक सम्बन्ध मुसकराकर, उनकी ध्वनियो का अनुकरण करके तथा सकेतो द्वारा प्रकट करती है। इस प्रकार मुसकराहट केवल आनन्द के सकेत को ही नही प्रकट करता है, वरन् इसमे सामाजिकता भी सम्मिलित होती है। बालक अपनी प्रसन्नता को दूसरो तक पहुँचाना चाहता है। इस समय वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। किसी को देखकर वह केवल मुसकराता है, और किसी को अपने छोटे हाथो से धक्का देता है जिससे वह गोद मे ले ले। जव वालक छः महीने का होता है, वह अन्य वालको पर ध्यान देना भी आरम्भ करता है। सम्भवत वयस्को की तुलना मे उसका छोटा शरीर और वयस्को की अपेक्षा अपनी ही आवाज से मिलती हुई उनकी आवाज उसे इस बात का आश्वासन देती है कि वडे लोगो की अपेक्षा यह उसके अधिक निकट है। पर यह प्रारम्भिक आकर्षण केवल कौतूहल-मात्र होता है। अन्य बालको के प्रति आकर्षण के विकास मे कुछ समय लगता है। वालक मे दूसरे बालको के प्रति पर्याप्त आकर्षण का विकास तव तक नही हो पाता, जव तक वह अठारह महीने का नही हो जाता। इस समय वह उनके साथ खेलने-योग्य होता है। कुछ वालको मे यह अवस्था देर मे, अर्थात् दो वर्ष की अवस्था के पश्चात् आती है। इस समय भी इस प्रकार के खेलो का समय वहुत कम होता है। वालक के अधिकाश खेल उसकी व्यक्तिगत क्रियाओ मे सीमित होते हैं। साढे चार अथवा पाँच वर्ष की अवस्था तक जहाँ तक खेल-विपयक क्रियाओ का सम्बन्ध है ; वालक का अधिकाश समय व्यक्तिगत खेलो मे व्यतीत होता है, और अन्य वालको के साथ मिलकर खेलने वाले अवसर नाटक के विष्कम्भक के समान कभी-कभी आते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि पाँच वर्ष की अवस्था तक वालक के खेलो से प्रकट

होता है कि वह समाज मे तो रहता है पर समाज का नही होता।

उसका खेल-सम्बन्धी दृष्टिकोण कुछ भी हो, पर बालक बडो के समाज से उदासीन नही रहता। वह दोनो ही ओर आकर्षण का अनुभव करता है। वह अपनी अवस्था के बालको मे रुचि रखता है, और यह भी चाहता है कि वयस्क उसकी प्रशसा करे और उस पर ध्यान दे। वह अपने कार्यों तथा बचपन के खेल-कूद के लिए बडो की अनुमति चाहता है, और ऐसा काम करने मे झिझकता है जिसके लिए उसे मना किया जाए अथवा डाँटा जाए। जान डिवी के समान शिक्षा-शास्त्री यह कहते हैं कि बालक के अनुकरण उसके सामाजीकरण के प्रमाण हैं। बालक का वयस्को के कार्यों का अनुकरण यह प्रकट करता है कि बालक किस प्रकार सहयोग के साथ सामाजिक कार्यों मे व्यस्त है। वह अपने चारो ओर के मण्डल के प्रति सचेत रहता है, और यह देखने मे गलती नही करता है कि किस प्रकार अन्य लोग उसका निरीक्षण कर रहे हैं। वह अपने खेलो मे अन्य लोगो की स्वीकृति प्राप्त करता है तब उसकी रुचि और बढ जाती है।

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि बालक जिस समय ट्रैफिक पुलिस का खेल खेलता है, अथवा कुर्सी को गाडी के डिब्बे की तरह प्रयोग मे लाता है, वह अपने प्रयोग से स्वय आनन्द प्राप्त कर रहा है, पर इसका गम्भीरता से विश्लेषण करने पर हम पाते है कि उस समय वह दूसरो की स्वीकृति पाना चाहता है। जब वह दूसरो को अपने कार्य से प्रसन्न होता देखता है, वह और अधिक उत्साहित हो जाता है। यहाँ तक कि जब अपने पिता के जूते पहनकर अपनी तोतली भाषा मे कहता है कि 'मैं पिता हूँ।' वह समाज मे उच्च स्थान, जिसे वह अपने पिता को उपयोग करते देखता है, उसे प्राप्त करने की आकाक्षा प्रकट करता है। अपने अनेक काल्पनिक खेलो मे वह बडे होने की कल्पना करता है। क्योकि वह समाज मे अपेक्षाकृत अपनी हीन-अवस्था के प्रति सचेत रहता है, और इसके लिए पीडा का अनुभव करता है। इन सबमे हम देखते है कि

बालक अपने चारो ओर की सामाजिक स्थिति से समाज मे हीनता और उच्चता के महत्व का ज्ञान प्राप्त करता है ।

बालक को खेलने, भाषा पर अधिकार करने अथवा शिष्टाचार सीखने, प्रत्येक प्रकार के कार्य मे उन्नति की ओर प्रेरित करने वाले, उत्साह-वर्धक शक्ति, वयस्को के द्वारा स्थापित किए आदर्शों के प्रति बढता हुआ ज्ञान ही है । यदि बहुत छोटी अवस्था से ही उनके व्यवहार मे जातिगत अन्तर दृष्टिगोचर हो (उदारहण के लिए बालक लडते अधिक हैं और बालिकाएँ रोती अधिक हैं) तो इसका कारण भी समाज मे बालक-बालिकाओ के लिए स्थिति की स्थापना ही है । बालिकाओ मे उग्रता की भावना का समाज मे बहुत छोटी अवस्था से ही विरोध किया जाता है । इसमे कोई आश्चर्य नही कि इसी कारण छोटी अवस्था से ही बालको की अपेक्षा बालिकाएँ अधिक विचारशील होती हैं ।

सामाजिकता के ज्ञान के क्षेत्र

जब बालक और बालिकाएँ पाठशाला मे प्रवेश करते हैं; चाहे किंडर गार्टन हो अथवा प्रारम्भिक पाठशाला, सम्भवत एक नया परिवर्तन होता है । जो बालक पाठशाला नही जाते अथवा देर से आते हैं उनमे यह परिवर्तन कुछ देर मे देखा जाता है । फिर भी सडक के कोनो मे, पडोस मे अथवा खेल के समूहो मे यह परिवर्तन देखा जा सकता है ।

ये पाठशाला अथवा खेल के समूह ही हैं जहाँ बालक अपने व्यक्तित्व को दृढ करने के लिए उचित स्थान पाता है । परिवार मे शासन का वातावरण होता है, बालक अपने बडो से घिरा रहता है जिनके निर्देश सम्भवत छोटी अवस्था मे वातावरण पर आवश्यक अधिकार प्राप्त करने के लिए अनिवार्य होते हैं । इतना कर लेने के पश्चात् वह कुछ अशो मे स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है । अपने खेल के समूह मे अथवा पाठशाला

मे वालक लगभग अपनी ही उस और योग्यता के बालको के वीच मे रहता है। अतः अपने व्यक्तित्व को दृढता से स्थापित करने के लिए यह आदर्श स्थान होता है। सामूहिक खेलो मे एक नेता अथवा प्रवन्धक होना चाहिए। लेकिन इतनी छोटी अवस्था मे बालक नेतृत्व का अर्थ स्पष्टता से नही समझते। सम्भवतः कोई अधिक बुद्धिमान वालक किसी कार्य का नेतृत्व करता है लेकिन देखता है कि अन्य वालक उसके इस नेतृत्व का विरोध करते हैं। निरन्तर मित्रता का टूटना और स्थापित होना इस अवस्था मे अपवाद के स्थान पर नियम होता है। इस अवस्था मे भी हमे यह सोचना चाहिए कि वालक अहवादी है। क्योकि इस समय भी वह सामाजिक गुणो के प्रति असावधान नही होता है। यदि अक्सर नेतृत्व का विरोध किया जाता है तो इसका कारण यह है कि नेतृत्व के साथ सामाजिक सम्मान सम्मिलित रहता है और प्रत्येक वालक लडकर उसे प्राप्त करना चाहता है। अत वह दूसरे की आज्ञाओ का पालन करना पसद नही करता। निश्चित नेता के नेतृत्व मे सामुदायिक खेल की महत्ता का ज्ञान विकसित होने मे समय लगता है। सम्भवत' किस प्रकार के खेलों मे उस अवस्था के वालक व्यस्त रहते हैं। वे साधारण खेल होते हैं, जिनमे एक निश्चित नेता के अधीन एक स्थिर सगठन की आवश्यकता नही होती है।

धीरे-धीरे बालक समझने लगते है कि खेल तथा अन्य अनके कार्यों मे स्थिर और परिवर्तनशील नियम तथा नेतृत्व वाले सगठित सामुदायिक कार्यों द्वारा ही सफलता मिल सकती है। वन्धनहीन समूह अनिश्चित दलो अथवा समूहो मे परिवर्तित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति मे अधिक बुद्धिमान वालक नेतृत्व ग्रहण करता है जव कि खेल तथा अन्य स्वतत्र कार्यों मे यह स्थिति होती है कि पाठशाला मे के अन्य नियमित कार्यों मे एक प्रकार की शासान-व्यवस्था पायी जाती है। यह घर मे पायी जाने वाली शासन-व्यवस्था से भिन्न नही होती। यहाँ अध्यापक निश्चित रूप से स्वीकृत नेता है। उसकी वयस्कता, उसका बालको की

दृष्टि में वृहत ज्ञान, कुछ सम्बन्धो मे घर के माता-पिता से समानता और कुछ सम्बन्धो मे उनसे मिलता, प्रारम्भिक पाठशाला के अशिक्षित को यह अधिकारपूर्ण पद प्रदान करती है जो कोई भी माध्यमिक अथवा विश्वविद्यालय का अध्यापक कभी भी पाने की आशा नही कर सकता। शिक्षित की एक मुसकराहट अथवा एक प्रशसा का शब्द बालक के जीवन को पाठशाला मे रहने योग्य बनाता है, जब कि व्यगपूर्ण वचन कम-से-कम पाठशाला की पढाई को उस वेचारे प्राणी के लिए नरक तुल्य बना देते हैं।

उम्र के बढने के साथ बालक मे स्पर्द्धा की भावना और अपने प्रदर्शन की भावना जागृत होती है। लेकिन यह वृत्ति भी सामाजिक है, क्योकि जब अन्य बालक दौड रहे हो, वह सबसे आगे निकल जाना चाहता है। प्रदर्शन की अत्यधिक इच्छा का अर्थ है कि उसके विरोध मे कुछ अन्य बालक हैं जिनमे वह अधिक श्रेष्ठ बनना चाहता है।

बहुत अशो मे बालक का अपने समूह के प्रति व्यवहार उसके पारिवारिक पोषण से निश्चित होता है। यदि बालक पर बहुत अधिक प्रेम का प्रदर्शन किया जाएगा तो वह स्वभावत उच्छृङ्खल हो जाएगा, और अपने सवेगो को वश मे करने मे असमर्थ रहेगा। वह उग्र खेलो का भी परिहास करेगा। ऐसे बालक स्वभावत सामूहिक खेलो मे असुविधा अनुभव करेंगे, और धीरे-धीरे उद्योगहीन हो जाएँगे। वे वयस्को मे मिलने का प्रयत्न करेंगे जहाँ वे अपनी अवस्था के बालको से अधिक सहायता और सुरक्षा की आशा करते हैं। यदि बालक ऐसे घर से आता है, जहाँ माता-पिता और विशेषकर माता लापरवाह है, बालक अपने माता-पिता की उपेक्षा की पूर्ति अनुचित रीति से अपनी अवस्था के बालको के बीच प्रदर्शन द्वारा करने का प्रयत्न करेगे। पर इससे कुछ समय बाद ही अन्य बालक उससे ऊब जाएँगे और वह अकेला रह जाएगा। ऐसे घरो से, जहाँ माता-पिता के सम्बन्ध अच्छे नही होते, आने वाले बालक उग्र हो जाते हैं। ऐसे बालक या तो अपनी मण्डली के सरदार बन जाते हैं, अथवा

अत्यधिक स्वीकृति चाहने के कारण अपने साथियो द्वारा त्याग दिए जाते हैं। जब बालक ऐसे घरो से आते है, जहाँ वयस्क अपनी बुद्धि और सहयोग से बालको का उचित रीति से निर्देशन करते हैं, तभी हम उन्हें सहयोगी पाते हैं जो पाठशाला से कुछ लेने आते हैं।

मूर्खता से बालको के शोषण से जो बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनके साथ-ही-साथ हमे उन बाधाओ का भी ध्यान रखना चाहिए जो सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण उत्पन्न होती हैं। धनी परिवारो के बच्चे कभी-कभी निम्न श्रेणी के बच्चो से मिलने के लिए रोके जाते हैं। इनसे केवल सामाजिकता मे ही बाधा नही पहुँचती है, वरन् कभी-कभी पिता और बालक मे विरोध हो जाता है। कुछ स्थितियो मे अधिक नम (Docile) बच्चो मे बहुत छोटी अवस्था से ही हानिकारक वर्ग-चेतना उत्पन्न हो जाती है, जो एक वर्गहीन समाज, जिसकी स्थापना हमारा उद्देश्य है, के लिए अत्यन्त हानिकारक है। धार्मिक, प्रान्तीय और जातिगत भिन्नता न हमारे देश मे इसी प्रकार के अवरोधक (Barriers) खडे कर दिए हैं। एक धर्म को मानने वाले बालको के साथ खेलने के लिए रोके जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप भिन्न-धर्म वाले वर्गों मे मिथ्या धारणा का विकास होता है। यह हमारे देश के समान जाति-बन्धन को न मानने वाले देश के सम्मुख बड़ी कठिन समस्या हो जाती है। प्रान्तीयता और अन्य जाति के प्रति घृणा भी पाई जाती है। इस का मुख्य कारण यह है कि बहुत छोटी अवस्था से ही बालको को भिन्न प्रान्त अथवा भिन्न जाति के बालको से मिलने के लिए मना किया जाता है। अतः रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दो मे "हम वयस्क ही बच्चो के छोटे और स्वतत्र ससार को सकीर्ण घरो की दीवार मे विभाजित करने के जिम्मेदार हैं।"

सम्भवत एक बुद्धिमान शिक्षक इस प्रकार की परिस्थिति का बहिष्कार करने मे बहुत कुछ कर सकता है। एक ओर वह अपने माता-पिता को अपने दृष्टिकोणो मे अधिक विवेकी होने के लिए बाध्य कर

सकता है। पर सम्भवत इसमे वह सदा सफल नही हो सकता। लेकिन इसके अतिरिक्त माता-पिता के विश्वासो को चोट पहुँचाए बिना वह अपनी शिक्षा के द्वारा सामूहिक खेलो और सहयोगी सामुदायिक खेलो द्वारा प्रभावशाली सामाजिकता के प्रचार का अवसर कर सकता है। इस प्रकार के कार्यों मे एक रसोइए का लडका और एक धनिक का पुत्र (धनी और निर्धन) एक साथ मिल सकेंगे। धार्मिक और जातिगत भिन्नताएँ भी अलघनीय अवरोध करने से रोकी जा सकती हैं। बहुत छोटी अवस्था से दोनो की एक साथ भोजन-व्यवस्था को केवल माता-पिता के घोर विरोध पर ही हटाया जा सकता है। पर भिन्न जाति और धर्म के वालको को समाजीकरण के अन्य अनेक अवसर प्रदान किए जा सकते हैं। यह कार्य केवल एक कुशल प्रारम्भिक अध्यापक द्वारा ही सम्भव है जो अपने विवेकपूर्ण निर्देशन द्वारा जाति-वर्गहीन भारतीय समाज का वीज वो सकता है, जो वर्तमान के स्वप्न पर भविष्य मे अवश्य पूरा होगा।

किशोरावस्था

किशोरवस्था का आरम्भ होते ही, प्रत्येक बालक और बालिका अपने बनाए हुए अवरोधो मे ही अपने को सीमित कर लेता है। यह भी स्थिति का ही परिणाम होता है। कैशोर अपने प्रति अत्यधिक सचेत रहता है। उसका यह विचार कि वह समाज के अयोग्य है, उसे समूह को छोडकर एक घोघे के समान—जो खतरे को आता देख अपने घोघे मे छिप जाता है—अपने द्वारा निर्मित कल्पना के ससार मे रम जाने को वाध्य करता है। अपने को दृढ करने अथवा अह की वृत्ति जो अभी तक वालक को वाह्य ससार मे दूसरो से सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्रेरित करती रही, किशोरवस्था मे आकर अन्तर्मुखी हो जाती है। विशेष रूप से भिन्न समाज और आर्थिक वर्ग के वालक सम्पन्न परिवारो के वालको के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने मे हिचकते हैं। छोटी अवस्था मे धनी और निर्धन के वीच स्वतन्त्र सामाजिक सम्वन्ध मे वाधा सम्पन्न

माता-पिता की ओर से आती है, और अब यह झिझक स्वयं निर्धन बालको की ओर से आती है। इसका कारण यह है कि अपने वस्त्र तथा अन्य वस्तुओ का अन्तर वहुत दु खदायी रूप से अनुभव करते हैं। इस अवस्था मे यह भी देखा जाता है कि निम्न सामाजिक-आर्थिक-वर्ग के वालको का समाज से अस्वीकृत व्यवहारो के प्रति भिन्न प्रकार का सहन दृष्टिकोण होता है। वे कम सहनशील और कम उदार होते है,तथा अधिक अधिकार प्राप्त परिवार के वालको की अपेक्षा उनमे दण्ड देने की तथा अधिकार की भावना अधिक होती है और यह फिर स्वतन्त्र समाजी-करण के अवसरो को सीमित कर देती हैं।

दूसरे लिंग (Sex) के प्रति आकर्षण का विकास, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, इस अवस्था मे अधिक दृष्टिगोचर होता है और यह भी यथार्थ मे एक सामाजिक दृष्टिकोण है। लेंकिन उसकी भी अपनी समस्याएँ हैं। भारत-सरीखे देश मे जहाँ यह आकर्षण अनाचार समझा जाता है, किशोर को स्वतन्त्रतापूर्वक मिलने की अपनी इच्छा का दमन करने के लिए बाध्य किया जाता है। बालक सम्भवत इस सघर्ष का नाश करने के लिए, खेल के मैदान मे अपना प्रदर्शन करने की ओर प्रवृत्त होता है, अथवा महल्ले के जमाव मे सम्मलित होता है, या शोख रग के वस्त्र पहनता है। कभी-कभी इसी के साथ वह वाह्य रूप से लड-कियो के प्रति तिरस्कार की भावना (जो वास्तविक नहीं है) प्रदर्शित करता है। वह छोटी लडकियो अथवा घर मे छोटी बहनो को चिढाने मे प्रसन्नता का अनुभव करता है और यह उसके सघर्ष का, जिससे होकर वह गुजर रहा है, एक चिन्ह है।

दूसरी ओर बालिकाएँ सदा सावधान रहती हैं। वे दुराचार अथवा समाज द्वारा निषिद्ध किसी भी कार्य के प्रति वहुत सचेत रहती है। वे बडी सदेहशील होती हैं, और निर्दोष भाव से भी किसी लडके की उनसे बात करने की इच्छा को वे बुरा समझती हैं। इस अवस्था मे उनका अपने वस्त्रो और अलकार की ओर विशेष आकर्षण उनकी

प्रदर्शन की इच्छा को प्रकट करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनो ही जाति के किशोरो के व्यवहार मे विशेष रूप से दो सामाजिक इच्छाएँ मिलती हैं। पहली दूसरो के सामने अपने प्रदर्शन का या कम-से-कम भद्दे न दिखाई देने की इच्छा, जो कि वास्तव मे एक सामाजिक इच्छा है, और दूसरी वयस्को की भाँति दुराचारी न बनने के आदर्श को दृढ करना है। यह इच्छा भी सामाजिक है जो उन्हे अपनी आन्तरिक इच्छाओ को दमन करने की प्रेरणा देती है।

हमे व्यक्तिगत और सामूहिक स्थिति मे भी भेद करना चाहिए। जब एक लडका किसी लडकी से जिसे उसने पहले कभी नही देखा है, अकेले मे बात करने का अवसर पाता है तब वह अत्यधिक शर्मा जाता है, और एक विचित्रता का अनुभव करता है। यह उसके अन्दर कार्य करती हुई तीन शक्तियो का परिणाम है। वह अपने को यथाशक्ति अच्छा व्यवहार करने वाला तथा शूर शक्ति प्रदर्शित करना चाहता है, और उसी समय दु ख के साथ यह भी अनुभव करता है कि वह और भी बुरी तरह से व्यवहार कर रहा है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी भावना, समाज द्वारा स्थापित आदर्श, कि किसी भी लडकी से अधिक स्वतत्रता-पूर्वक बात करना पाप है, उसके दिमाग मे आती है। इन शक्तियो का परिणाम यह होता है कि वे लडके को यदि विक्षिप्त नही तो कम-से-कम भीरु और लज्जालु अवश्य बना देती हैं।

समूह मे इस प्रकार के बालक कुछ साहसी और अनुचित रीति से उग्र दिखाई देते हैं। समूह बनाने की यह प्रवृत्ति किशोरावस्था के अतिम काल मे अधिक दिखाई देती है। यहाँ समूह ही उसका समाज होता है, जहाँ उसे अपना प्रदर्शन अवश्य करना चाहिए। इस समय का समूह केवल एक भीड़-मात्र होती है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने महत्व की भावना से भरा है। प्रत्येक व्यक्ति को अतिक्रम कर जाना चाहता है, और इसके परिणामस्वरूप इस प्रकार के व्यवहार देखे जाते हैं जो कोई भी व्यक्ति अकेले मे करने का साहस न करता।

यह समूह-निर्माण जैसा कि ऊपर भी कहा गया है अन्तिम किशोरावस्था की प्रमुख विशेषता है। क्योकि एक समय अपने सवेगात्मक सघर्ष और किशोरावस्था की उन्नति से उत्पन्न शारीरिक समस्याओ से आक्रान्त किशोर अपने बनाए घोघे मे छिप जाने के लिए बाध्य होता है। किशोरावस्था के अन्त मे मानो वयस्को की दुनिया को चुनौती देता हुआ वह फिर लौटकर आता है और अपने खोए हुए स्थान को पुन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह प्रक्रिया व्यक्तिगत प्रयत्न के रूप मे बहुत कम प्रकट होती है। साधारणतः वह अपने पुराने मण्डल-घर और विद्यालय मे नीरसता का अनुभव करता है तथा विस्तृत ससार मे एक स्थान प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त होता है। इस अवस्था मे सघर्ष की ओर प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। अन्य सब समूहो की भाँति अन्तिम किशोरावस्था के यह समूह भी बिना किसी विचार के व्यवहार करते हैं। सम्भवत. इस समूह की मानसिक अवस्था की जड मे प्राचीन काल के सामाजिक सगठन की अस्पष्ट पुनरावृत्ति रहती है, जब नवयुवक पुराना परिवारिक सम्बन्ध तोडकर पहले सघ स्थापित करते थे और जिसने उन्हे अपने घर स्थापित करने मे सहायता दी। सम्भवतः इस समय प्रकट होने वाली कक्षा से भागने की विशिष्ट भावना का मूल भी यही वस्तु होती है। इस समय की मित्रता अपेक्षाकृत स्थायी होती है और रुचि की एकता, योग्यता की समानता अथवा सामाजिक-आर्थिक स्तर की समानता, इन तीन बातो मे से किसी एक के द्वारा निर्धारित होती है।

शिक्षा की दृष्टि से यह काल बड़े कुशलतापूर्वक प्रबन्ध की माँग करता है। किशोरावस्था के प्रारम्भ मे पलायन की प्रवृत्ति या काल्पनिक ससार मे विचरण करने की प्रवृत्ति रहती है। अत अध्यापक का सारा प्रयत्न बालक मे आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न करने मे केन्द्रित होना चाहिए। कल्पना को निर्माण की दशा की ओर उन्मुख करना चाहिए। यह किशोर को कला, सगीत, साहित्य और विज्ञान-सरीखे उत्पादक कार्यों को करने के लिए उत्साहित करके किया जा सकता है। किशोर इस

अवस्था मे लज्जालु होता है; अतः अध्यापक को उसे विश्वास और सामाजिकता के लिए अवसर प्रदान करने चाहिए, जिससे वह फिर सामूहिक जीवन मे प्रवेश करे। ऐसा करने के लिए सम्भवत अध्यापक किशोरावस्था के अन्तिम काल मे भी उन्हे उत्साहित करेगा, जब कि समूह बनाना उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है। पर अन्तिम किशोरावस्था की समस्या एकान्तता नही, वरन् उग्रता है और यह उग्रता का स्वभाव अधिकाश समूह मे प्रतिक्रिया के अवसर पर दिखलाई देता है। यह अवसर अध्यापक से बहुत कौशल और विवेक की माँग करता है। उसे समूह की प्रधानता प्रकृति का ज्ञान होना चाहिए। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने को वहुत महत्व देता है और दूसरे को अतिक्रम कर जाना चाहता है। यह सब व्यक्ति के अह को प्रकट करता है और यह अध्यापक का कार्य है कि वह इस नव-विकसित अह-भावना को प्रत्येक सघर्ष के अवसरो का वहिष्कार करते हुए समाज-स्वीकृत उत्पादक मार्ग की ओर उन्मुख करे।

सम्भवत यह कार्य सामाजिक सेवा शिविर (Social Serv.ce Camp) वालचर तथा अन्य इसी प्रकार की क्रियाओ का सगठन करके कर सकता है, क्योकि सौभाग्य से किशोर कोई अच्छा कार्य अथवा दूसरो का उपकार करने के लिए सदा-तत्पर रहता है। कार्य सोपने पर उस पर विश्वास किया जाए और क्या अच्छा है तथा क्या वुरा है यह निश्चित करने का अवसर प्रदान किया जाए। लडकियो को परिचर्या अथवा इसी प्रकार के अन्य समाज-सेवा के कार्य सौंपे जा सकते हैं। अन्तिम किशोरावस्था मे प्रभूत परिमाण मे शक्ति होती हैं। समाज इसका वहुत कम लाभ उठाता है। वुरे मार्ग मे लग जाने पर झगडे और सघर्ष का कारण होती है, लेकिन यदि उचित रीति से मार्ग-प्रदर्शन किया जाए, वह केवल किशोर को उचित कार्य मे लग जाने का सन्तोप नही देगी, वरन् समाज भी इससे वहुत लाभ उठा सकता है यह शिक्षक और नव-युवक आन्दोलन के नेताओ का कार्य है कि वे इस प्रकार के माग

श्रौर साधन प्रस्तुत करें जो उन्हे श्रपनी शक्ति का श्रेष्ठतम उपयोग करने योग्य वना सकें ।

सामाजिक प्रतिक्रिया मे वयक्तिक भेद

प्रारम्भिक शिशुकाल मे ही हम देखते है कि कुछ शिशु श्रधिक सामाजिक श्रौर उत्तर देने वाले होते है जव कि दूसरे शर्मीले होते हैं। यह श्रन्तर उनके पोषण के ढग के श्रन्तर के कारण होता है। यद्यपि दोनो का पोषण एक ही परिवार मे होना है। जवकि एक वालक दूसरे लोगो मे कुछ श्रसाधारण श्राकर्षण दिखलाता है, उसके माता-पिता श्रौर गुरुजन श्रपनी स्वीकृति प्रकट कर उसे प्रोत्साहन देते हैं। यह स्वभावत उसे श्रधिक सामाजिक श्रौर उत्तर देनेवाला वना देता है श्रौर वह श्रपने इस श्रारम्भिक लाभ को सम्पूर्ण जीवन मे ले जा सकता है। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि दूसरे वालक के सामाजिक वनने के प्रयत्न डाँट श्रयवा श्रौर किसी प्रकार की रोक के द्वारा हतोत्साहित कर दिए गए हो। यह उमे सदा के लिए शर्मीला श्रौर भीरू बना देता है। श्रतः एक ही परिवार मे उग्र श्रौर शान्त, दो प्रकार के वालको का होना यह प्रकट करता है कि श्रन्तर वशानुक्रम (Heridity) के कारण नही है, वरन् प्रारम्भिक परिस्थितियो के कारण है। जव वालक पाठशाला मे प्रवेश करता है, वह श्रपने साथ कुछ विशिष्ट व्यक्तिगत श्राचरण लाता है। वह सामाजिक श्रथवा शर्मीला होता है, उग्र श्रथवा शान्त होता है, पर श्रधिकतर वालको का प्रधान चरित्र वहुत श्रशो मे स्थिर रहता है। वे श्रधिकतर उग्र श्रथवा शान्त, सामाजिक, श्रथवा शर्मीले रहते हैं, जैसे वे पहले थे। पाठशाला मे हम चार प्रकार के प्रधान लक्षण वाले विद्यार्थी पाते हैं —

(१) पहले प्रकार के बालकों की प्रमुख विशेषता पलायन (With drawl) होती है। व्यक्ति उग्र करने वाली परिस्थितियो से सदा पीछे हटता है श्रौर इस प्रकार वह शान्त प्रकृति वालो से सम्बन्ध रखता है।

(२) दूसरे प्रकार के बालक उग्र होते हैं। वे वातावरण पर आक्रमण करते हैं और उससे सघर्ष करते है, ऐसे बालक सदा लडने के इच्छुक रहते हैं, अथवा सदा तैयार रहते हैं और छोटी-सी बात पर ही उत्तेजित हो जाते हैं। सम्भवत स्तन-पान बिछुडन के समय (Weaning period) उचित रूप से देख-रेख न करने से ही बालक इस प्रकार का हो जाता है। लेकिन वे अपने इस आचरण को पाठशाला मे भी ले जाते हैं और वहाँ अपनी सामाजिक परिस्थितियो मे उसका प्रदर्शन करते हैं।

(३) तीसरे प्रकार के बालक दृढ अनुकूल (Conforming) प्रकार के होते हैं। वे प्रत्येक परिस्थिति के अनुकूल अपने को बना लेते हैं, अथवा वे अधिक सामाजिक होते हैं। इस प्रकार के बालको का पालन-पोषण उचित ढग से हुआ है।

(४) चौथी प्रकार के बालक सचेत व्यक्ति होते हैं। वे जैसे-जैसे आगे बढते हैं, अपने कदम नापते हैं। सामाजिक सम्बन्धो मे ये लज्जा का प्रदर्शन करते हैं, जो प्रत्यक्ष देखने मे पलायन से भिन्न नही होती है। लेकिन पलायनवादी (Withdrawing) सदा किसी भी परिस्थिति से अलग-अलग रहते हैं और सचेत प्रकार के व्यक्ति एक बार लज्जा के टूट जाने पर परिचित परिस्थितियो मे बडा उत्साह दिखलाते हैं, जो पलायनवादियो मे नही होता।

सम्भवत कोई भी बालक केवल एक ही प्रकार से सम्बन्ध रखने वाला नही कहा जा सकता, उसमे एक प्रकार प्रमुख हो सकता है, पर अन्य प्रकार के लक्षण भी छिपे रहते हैं। जब हम देखते हैं कि एक बालक अपना आचरण परिवर्तित कर देता है, तब वास्तव मे बालक का प्रमुख आचरण पृष्ठभूमि मे चला जाता है और गौण प्रकार जो कि गुप्त अथवा छिपा हुआ था, सामने आ जाता है और उसका स्थान ले लेता है। वह परिवर्तन केवल एक आकस्मिक घटना के कारण हो सकता है, पर वास्तव मे एक अनुभवी अध्यापक का कुशल-निर्देशन व्यक्ति मे उपस्थित गौण व्यवहार के चिन्हो का पता लगा सकता है। जब व्यक्ति साधारण

अवस्था में पलायन (Withdrawing) अथवा उग्रता (Aggression) प्रकट करता है। थोडा-सा प्रोत्साहन अथवा विश्वास की भावना उसके पलायन के अवरोधक (Barrier) को तोड सकती है और सम्भवत उसकी अत्यधिक सावधानी का उपचार हो सकता है। इसके पश्चात् हम सहयोगी व्यक्ति के स्थान पर कुछ परिस्थितियो मे उसे पर्याप्त सहयोगी पाएँगे। इसी प्रकार एक उग्र सहयोगी और दृढ (Conforming) वृत्ति वाले वालक के सम्मुख ऐसी स्थिति उपस्थित की जा सकती है, जिसमे उसकी उग्रता भी उसके दीर्घ प्रयत्न का साधन वन जाए, और वह इस प्रकार के कार्य करने के लिए उत्साहित किया जा सकता है, जो उसकी लडने की इच्छा के स्थान पर उसकी शक्ति को चुनौती दे।

वालक की सामाजिक चेतना वाल्यावस्था मे वढ जाती है, जव वे पाठशाला अथवा अपने सामूहिक खेलो मे अधिक समय अपनी अवस्था के बालको के वीच व्यतीत करते हैं। इस परिवर्तन की प्रारम्भिक अवस्था मे नेतृत्व स्थिर नही होता है, और मित्रता होती और टूटती रहती है। इस का कारण यह है कि वालक का व्यक्तित्व और अहभावना सामाजिक परिस्थिति मे अपनी सत्ता दृढ करना चाहती है और विरोधी वृत्तियो मे सघर्ष होता है। धीरे-धीरे ये समूह निश्चित समुदाय अथवा वर्गों मे परिवर्तित हो जाते हैं जिसमे नेतृत्व निश्चित रहता है। जवकि खेल के मैदान तथा अन्य स्वेच्छाचारी क्रियाओ मे यह परिवर्तन होता है, पाठशाला की नियमित क्रियाओ मे वालक अध्यापक के नेतृत्व का ज्ञान प्राप्त करता है। अध्यापक अपने इस अधिकार का प्रयोग बालक के व्यक्तित्व का उचित रीति से निर्माण करने मे करता है। यदि वह अपने पृथक रहने के स्वभाव को छोड देता है और अनुचित रीति से अपना महत्त्व न स्थापित करके सामूहिक खेलो तथा स्वतत्र क्रियाओ मे भाग लेता है, वह बालक के व्यक्तित्व के साधारण विकास मे वाधा पहुँचाए विना, बालको के बीच व्यक्तित्व-सम्बन्धी अनुचित झगडो को टालने तथा उसे (बालक के व्यक्तित्व को) सही रास्ते से लगाने मे सफल हो सकता है।

किशोरावस्था के आते ही बालक शर्मीला हो जाता है। वह अपने को अपने ही बनाए घोंघे मे सीमित कर लेता है। यह नितान्त असामाजिक प्रवृत्ति प्रतीत हो सकती है। पर इसके मूल मे भी एकाएक अपने श्रेष्ठतम रूप मे दूसरो के सामने प्रकट होने की प्रवृत्ति तथा इसमे बाधा पहुँचाने वाली वास्तविकताओ के लिए व्याकुलता सामाजिक आकाक्षा की होती है। सम्भवतः बालक और बालिकाओ की इस अवस्था मे उत्पन्न नवीन रुचियाँ भी अपनी अपूर्णता की भावना के कारण ही होती हैं और वह अपनी शारीरिक असमर्थता को सुन्दर और आकर्षक वस्त्रो से छिपाने का प्रयत्न करता है। इस स्थिति मे अध्यापक का कार्य बालक के शर्मीले स्वभाव को जीतना और स्वतत्र सामाजिकता और सामूहिक क्रियाओ के लिए अवसर प्रदान करना तथा उसके तरगी स्वभाव को, जो वास्तविकता से पलायन करने का परिणाम है, स्वस्थ तथा उत्पादक मार्ग मे लगा देना है।

अन्तिम किशोरावस्था मे उसकी समूह-प्रवृत्ति (Gang Spirit) समूह-निर्माण या भीड की भावना तथा बडो के द्वारा स्थापित निर्णयात्मक आदर्शों के उग्र विरोध मे पुन प्रकट होती है। इस समय अध्यापक का कार्य इस शक्ति को समाज-स्वीकृत सेवा के उत्पादक कार्यो की ओर उन्मुख करता है। इससे वह व केवल किशोर को स्वस्थ दिशा की ओर उन्मुख तथा समायोजित करेगा, वरन् हमे परेशान करने वाली अनेक अनुशासन की समस्याओ को हटा देगा तथा समाज का भी कुछ कल्याण कर सकेगा। इन सामान्य लक्षणो के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत भिन्नताएँ भी हैं। एक ही परिवार के भिन्न-भिन्न सदस्यो मे पाई गई भिन्नताएँ यह प्रकट करती हैं कि ये अन्तर वशानुक्रम से नही प्राप्त होते, वरन् प्रारम्भिक पोषण का परिणाम हैं। कुछ परिवारो की साधारण और असाधारण विशेषताएँ होती हैं। मोटे रूप से कहा जा सकता है कि चार प्रकार के बालक होते हैं—पलायनवादी (Withdrawing), उग्र (Aggressive), दृढ (Conforming) और सचेत

(Cantious) होते है। जबकि इन प्रवृत्तियों मे परिवर्तन करना कठिन होता है, सौभाग्य से इन प्रमुख प्रवृत्तियों के पीछे कुछ गौण प्रवृत्तियाँ भी छिपी रहती हैं। अगर बालक की प्रमुख प्रवृत्ति असामाजिक है तो अध्यापक उसके उपचार के लिए ऐसी परिस्थिति की योजना कर सकता है, जिससे प्रमुख प्रवृत्ति के स्थान पर दूसरी सन्तोपजनक गौण प्रवृत्ति को सामने लाया जा सके, और प्रमुख परन्तु असामाजिक प्रवृत्ति को पीछे किया जा सके।

व्यक्तित्व का विकास

व्यत्तित्व वह विशेष गुण है जो एक व्यक्ति को अन्य व्यत्तियो से अलग करता है। हमारी दृष्टि प्राय उन्ही गुणो पर पडती है जो आकर्षक और अन्य लोगो से भिन्न होते हैं, इसीलिए हम लोगो को लम्बा अथवा नाटा, बुद्धिमान अथवा मूर्ख, अच्छा या बुरा आदि श्रेणियो मे विभाजित करते हैं। दुर्भाग्यवश इन गुणो की कोई निश्चित सीमा-रेखा नही है— जिससे हम यह कह सकें कि कहाँ से वे आरम्भ होते हैं। उनकी मात्रा क्रमानुसार एक व्यक्ति से दूसरे मे बदलती जाती है, और इस प्रकार हम उन्हे किसी विशेष श्रेणी मे विभाजित नही कर सकते। यद्यपि शारीरिक गुण हमारी दृष्टि को पहले आकर्षित करते हैं फिर भी अन्त मे हम मनुष्य के स्वभाव से ही अधिक आकृष्ट होते हैं। मनुष्य-स्वभाव जानने के लिए यह अधिक सरल ढग है कि हम मनुष्यो को कुछ विशेष श्रेणियो मे विभाजित कर दें और उन विभागो से व्यक्तियो के स्वभाव का पता लगाएँ। इस प्रकार हम यह भी जान जाएँगे कि आम श्रेणियो से किस प्रकार के व्यवहार की आशा की जा सकती है। हिप्पोक्रेटस (Hippocratus) नामक एक ग्रीक (४०० ई० पू०) ने सबसे पहले सवेगात्मक स्वभाव के अनुसार मनुष्यो को निम्नलिखित चार श्रेणियो मे विभाजित किया है।

(१) जो शीघ्र ही उत्तेजित होते हैं अर्थात् धैर्यहीन व्यक्ति। (Cholric Type)

(२) जो सवेगात्मक रूप से धीर और निर्जीव-से मालूम होते हैं

अर्थात् शान्त स्वभाव के व्यक्ति। (Phlegmatic type)

(३) जो कुछ सुस्त और निराशावादी हैं अर्थात् दु:खवादी व्यक्ति। (Melancholic)

(४) जो कर्मशील परन्तु असहिष्णु होते हैं अर्थात् शीघ्रगामी व्यक्ति। (Sangnine)

हिप्पोक्रेटस के कथनानुसार व्यक्तित्व की ये चार श्रेणियाँ हमारे अन्दर कुछ विशेष रसो के कारण उत्पन्न होती हैं, क्योकि ये रस हमारे रक्त मे मिल जाते है। इस प्रकार हिप्पोक्रेटस ने वही सिद्ध किया जो बहुत दिन बाद कुछ जीव-वैज्ञानिको ने कहा कि यकृत (Liver) से नही बल्कि ग्रान्थियो से निकलकर रस हमारे मवेग पर प्रभाव डालता है। हिप्पोक्रेटस के कथनानुसार एक साधारण मनुष्य मे ये चारो रस बराबर मात्रा मे रहते हैं।

हिप्पोक्रेटस के २३ शताब्दी बाद सन् १६११ मे विलियम जेम्स ने मनुष्य के स्वभाव को दो श्रेणियो मे विभाजित करने का प्रयत्न किया-एक आदर्शवादी और दूसरे प्रयोगवादी। आदर्शवादी कुछ सिद्धान्त लेकर चलते हैं तथा आवश्यकतानुसार सुविधा के लिए सिद्धान्त को छोड भी सकते हैं। सन् १६२७ मे युग (Jung) ने भी दो विभाजन किए थे, लेकिन उनका आधार भिन्न था। उन्होने समस्त व्यक्तियो को बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दो श्रेणियो मे रखा। बहिर्मुखी व्यक्ति बाह्य ससार मे अपने आदर्शों का आधार ढूँढता है अत उसका दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक होगा, और वह स्वय भी अधिक सामाजिक व्यक्ति होगा। इसके विपरीत अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने अन्दर ही अपने आदर्शों का महल खड़ा करता है, अतः वह अधिक सिद्धान्तवादी और आत्मकेन्द्रित तथा स्वल्पभाषी होगा।

इस प्रकार दो वर्गीकरण करने पर फिर हमारे सामने वही कठिनाई उपस्थित होती हैं कि इन दो भागो मे ठीक से सब व्यक्तियो को नही रखा जा सकता है। आलपोर्ट ने इसलिए कुछ चारित्रिक गुणो की

खोज की। इन गुणो का होना आवश्यक है, और उनके द्वारा हम उचित रूप से उनको माप कर यह कह सकते हैं कि किस व्यक्ति मे कौनसे गुण अधिक हैं। इस प्रकार किसी व्यक्ति-विशेष के व्यक्तित्व का भी पता लग सकता है। आलपोर्ट के चारित्रिक गुण का सिद्धान्त सर्वप्रथम सन् १९२४ ई० मे प्रकाशित हुआ। ठीक से विभाजन करने के लिए उसने प्रत्येक गुण को कई उपगुणो मे भी विभाजित किया है। उसके प्रमुख पाँच गुण हैं—बुद्धि (Intelligence), गतिशीलता (Mobility), स्वभाव (Temperament), आत्मप्रकाशन (Self expression) और सामाजिकता (Sociability)।

१ बुद्धि का परिचय निम्न उपगुणो से मिलता है।

(क) किसी कठिनाई का सामना करके उसे दूर करने की शक्ति।

(ख) स्मरण-शक्ति जो शिक्षा से बहुत अधिक सम्बन्ध रखती है।

(ग) दो वस्तुओ मे पारस्परिक सम्बन्ध देखने की शक्ति।

(घ) रचनात्मक कल्पना-शक्ति।

(च) निर्णय की विचार-शक्ति।

(छ) नवीन परिस्थितियो से समायोजन करने की शक्ति।

२. गतिशीलता को ही हम चार वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं —

(अ) कार्य करने की क्षमता।

(व) कार्य करने की रीति।

(स) अध्यवसाय की क्षमता।

(द) सामान चालक शक्ति।

३ स्वभाव का परिचय पाँच प्रकार से मिल सकता है :—

(क) सवेगात्मक रूप से व्यक्ति कितना दृढ है।

(ख) वह अपने सवेग-क्षेत्र मे उदार है अथवा सकीर्ण है।

(ग) अपने सवेगो को नियन्त्रित करने की शक्ति।

(घ) उसकी मनोवृत्ति क्या है।

(च) अन्य व्यक्तियो के प्रति उसका आचरण।

४. आत्म-प्रकाशन निम्नलिखित पाँच वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) किसी कार्य को प्रारम्भ करने की शक्ति।

(ब) अन्तर्दृष्टि ।

(स) क्षतिपूर्ति की शक्ति अर्थात् किसी क्षति को वहन करने की शक्ति।

(द) वहिर्मुखी अथवा अन्तर्मुखी शक्ति।

(इ) उग्रता अथवा विनयशीलता।

५ सामाजिकता का निर्णय निम्नलिखित उपगुणो से हो सकता है —

(क) सामाजिक समायोजन।

(ख) सामाजिक जीवन मे भाग लेने की शक्ति।

(ग) वह व्यक्ति आत्मकेन्द्रित है अथवा नि स्वार्थी।

(घ) चरित्र ।

इस प्रकार आलपोर्ट ने मनुष्य की प्रवृत्ति को २४ गुणो मे विभाजित किया है। प्रश्न यह आता है कि क्या मानवी प्रकृति के समस्त गुणो का परिचय हमे इससे मिल जाता है। इस पर लोगो का मतभेद है। लेकिन इनकी ठीक-ठीक माप करना कठिन है। इन गुणो का ठीक विचार करने के लिए उचित मान अथवा आदर्श होना चाहिए। इन आदर्शों का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति मनमाने ढग से करेगा, और एक व्यक्ति कहाँ तक आदर्शों के अनुरूप है अथवा नही इसका विचार भी विचारिक अथवा निरीक्षक अपने ढग से करेगा। इसलिए आलपोर्ट के व्यक्तित्व-निर्णय के सिद्धान्त पर हम आज इतना विश्वास नही कर सकते, जितना एक समय से किया जाता था।

व्यक्तित्व-निर्णय के सिद्धान्त

हमारा शारीरिक सगठन कुछ सीमा तक हमारे व्यक्तित्व का भी

निर्णय करता है। जीव-वैज्ञानिको ने अपने दृष्टिकोण से व्यक्तित्व पर विचार किया है। अरनेस्ट क्रेटशेमर (Ernest kretschmer) ने शारीरिक गठन के अनुसार मनुष्य को तीन भागो मे विभाजित किया है :—

(क) छोटे और मोटे शरीर के व्यक्ति जिन्हे उन्होने पिकनिक (Pyknic) कहा है।

(ख) दीर्घकाय और दुबले शरीर के व्यक्ति जिनको एस्थेनिक (Asthenick) कहा है।

(ग) पेशीयुक्त तथा संगठित शरीर वाले व्यक्ति जिन्हे व्यायाम-कारी (Athelates) का नाम दिया है।

क्रेट शेमर इस बात से बहुत अधिक आश्चर्यचकित हुए कि उन्माद (Manics) प्राय. छोटे और मोटे व्यक्तियो को, तथा शिजोफ्रानिया (Schizophranea) प्रायः दीर्घकाय (Asthenic) और व्यायामकारी (Athelates) दोनो प्रकार के व्यक्तियो को होता है। उन्होने यह भी देखा कि दीर्घकाय व्यक्तियो को यदि शिजोफ्रानिया न हो तब वे प्राय. शर्मीले और गम्भीर प्रकृति के अन्तर्मुखी व्यक्ति होते हैं। क्रेट शेमर मे एक बडा दोष यह था कि उन्होने जो नियम बनाया वह बहुत कम क्षेत्रो को देखकर बनाया, अत इसमे व्यतिक्रम बहुत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकाश स्वाभाविक व्यक्ति भी या तो छोटे और मोटे अथवा लम्बे और दुबले या फिर पेशीयुक्त सगठित शरीर के होगे। इन सब मे उन्माद-प्रवृत्ति सुप्त अवस्था मे है, यह कहना ठीक नही होगा।

सन् १९२८ मे गिलबर्ट (Gilbert) ने सवेगात्मक चचलता को नापने के लिए मूत्र, लार अथवा स्वेद मे कितना क्षार (Alkali) निकलता है उसे नापा। इनके अनुसार जिस व्यक्ति मे अधिक क्षार निकलता है वह शीघ्र ही उत्तेजित भी होता है। लेकिन इस नियम मे भी बहुत व्यतिक्रम पाए जाते हैं। एक व्यक्ति के शरीर से निकलने वाले क्षार के अनुसार हम उसका चरित्र-निर्णय नही कर सकते। लुड्म वरमन

(Louis Berman) ने मलविहीन ग्रन्थियो (Ductless glands) से जो उत्तेजक रस निकलता है, उसके अनुसार व्यक्ति का निर्णय किया। इनका कहना है कि यदि आड्रिनल (Adrinal) ग्रन्थियो से अधिक रस निकलता है तो वह व्यक्ति अधिक कार्यशील होगा और कम रस निकलने पर वह चिडचिडे और अस्थिर स्वभाव का होगा। पिट्यूटरी (Pitutary) ग्रन्थियो के विषय मे यह देखना पडेगा कि किन कर्णपालियो (Lobes) मे रस निकलता है। यदि सामने की कर्णपाली से रस निकलता है तो वह व्यक्ति पुरुष-प्रकृति-प्रधान तथा पीछे की कर्णपाली से रस निकलता है तो स्त्री-प्रवृत्ति-प्रधान होगा। यदि थायराइड (Thyroid) ग्रन्थि से अधिक रस निकलता है तो यह व्यक्ति अधिक कार्यशील और कम निकलने पर जड-बुद्धि होगा। इस प्रकार ग्रन्थियो से निकलने वाले रस न केवल हमारे शारीरिक सगठन पर ही प्रभाव डालते है वल्कि हमारी प्रकृति या स्वभाव का भी निर्णय करते हैं। रास (Ross), स्टॉग्नेर (Stagner) और किनवाल यु ग (Kinball young) ने वरमन के सिद्धान्त को सन्देह की दृष्टि से देखा है। इन लोगो का कहना है कि उत्तेजक रस के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान इतना अधिक नही है कि हम ठीक से प्रकृति-निर्णय कर सकें। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल शारीरिक सगठन अथवा जीव-विज्ञान के आधार पर हम व्यक्तित्व का निर्णय नही कर सकते। यद्यपि यह निश्चित है कि मनुष्य का शारीरिक सगठन ही हमे केवल पहले ही आकर्षित करता है लेकिन दूसरी ओर यह भी सत्य है कि मनुष्य के शारीरिक सगठन और व्यवहार मे कुछ सम्बन्ध है। आलफ्रेड एडलर शारीरिक सगठन और प्रकृति मे सम्बन्ध देखकर आश्चर्यचकित हो गए थे। उन्होने देखा कि शारीरिक रूप से दोषयुक्त जैसे लँगडे, लूले, विकृत या भद्दे व्यक्तियो का स्वभाव अधिक उग्र होता है और वे अधिक अपराधी प्रवृत्ति के होते हैं। एडलर ने इस पर विचार किया कि उनके स्वभाव का कारण सामाजिक है या शारीरिक। उनका कहना है कि इन व्यक्तियो का व्यवहार उनके

अन्दर उपस्थित हीन-भावना (Inferiority Complex) के कारण इस प्रकार का होता है और वे अपने व्यवहार द्वारा अपने अन्दर की कमी की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी ये कारण काल्पनिक भी हो सकते हैं। आडलर के कथनानुसार यदि प्रत्येक व्यक्ति दोष-युक्त हो तब किसी भी व्यक्ति के अन्दर हीन-भावना नही होगी। क्योकि सब मे समानता न होने का उदय होता है, और उसी के फलस्वरूप वे इस प्रकार का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार शारीरिक सगठन अप्रत्यक्ष रूप से हमारे ऊपर जो प्रभाव डालता है, वह वास्तव मे सामाजिक है।

व्यक्तित्व-सम्बन्धी फ्रायड के विचार

फ्रायड ने विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो का निर्देश करने के लिए कोई नवीन ढग की खोज नही की है, वल्कि जिन शक्तियो के प्रभाव से व्यक्ति के अन्दर विशेष प्रकार की प्रवृत्तियो का जन्म होता है, उनका विश्लेषण किया है और समयानुसार उनका परिवर्तन दिखलाया है। फ्रायड के कथनानुसार हमारे अन्दर शक्ति का केन्द्र लिबिडो (Libido) है, यह लैंगिक है और हमारे अन्दर पशु-प्रवृत्ति अर्थात् इड (Id) को नियन्त्रित करता है। इड के अतिरिक्त हमारे अन्दर विवेचन-शक्ति अर्थात् अह और नैतिक-शक्ति अर्थात् विवेक होता है। केवल अह ही हमारे अन्दर इड को नियन्त्रित करके अवाछित सवेगों को रोक सकता है, और इस प्रकार वह अचेतन मस्तिष्क मे चला जाता है। लेकिन अह मे आत्मस्वार्थ अधिक प्रवल होता है, अत सदैव यह आवश्यक नही है कि वह वाछित और न्याययुक्त हो। हमारी नैतिक सत्ता अर्थात् हमारा विवेक एक पुलिस की भाँति हमारे अह (Ego) और इड (Id) की अवाछनीय प्रवृत्तियो का दमन करता रहता है, हमारे इड और विवेक का नित्य सघर्ष होता रहता है, परन्तु विवेक स्वय इड की पाशविक प्रवृत्तियो को रोकने मे असमर्थ होता है, अत इसे अह की सहायता लेनी पड़ती है। फ्रायड के अनुसार एक साधारण मनुष्य इन सघर्षों को ठीक

प्रकार से सुलझा लेता है. किन्तु असामान्य व्यक्ति इस सघर्ष मे समायोजन करने मे असमर्थ सिद्ध होते हैं। फ्रायड ने अवस्था के अनुसार भी व्यक्तित्व के विकास पर प्रकाश डाला है। एक नवजात शिशु का लिविडो अपने शरीर से ही सम्वन्ध रखता है अत वह आत्मकेन्द्रित होता है। सर्वप्रथम उसका वाहरी सम्वन्ध माता से होता है, और यदि माता-पुत्र का सम्वन्ध उचित रूप से न हो और उसका समायोजन न हो सके, तव उसका वुरा प्रभाव पडता है और कभी-कभी असाधारण वातें उत्पन्न हो जाती हैं। कभी-कभी वालको को माता के प्रति और वालिकाओ का पिता के प्रति सवेगात्मक आकर्षण होता है। आयु की वृद्धि के साथ लिविडो अन्य व्यक्तियो के प्रति भी आकर्षित होता है। पहले यह समलैंगिक रहता है और वाद मे भिन्न लैंगिक आकर्षण के रूप मे वदल जाता है, यद्यपि इसमे वाल्यावस्था का प्रभाव भी होता है। फ्रायड के अनुसार भी समाज द्वारा स्वीकृत जिस नैतिक और सामाजिक व्यवहार की हमसे आशा की जाती है, वह प्राय हमारे लिविडो की स्वतत्र कार्य-प्रणाली के प्रतिकूल होगा। इस प्रकार इड और विवेक मे सघर्ष उत्पन्न होगा। जव हमारा अह इन कार्यों के करने मे असमर्थ सिद्ध होता है तभी अस्वाभाविक व्यवहार पाया जाता है।

वीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे जव फ्रायड का सिद्धान्त प्रकाशित हुआ तव एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। कुछ लोगो का मत है कि फ्रायड ने हमारे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे एक नवीन क्रान्ति का प्रादुर्भाव किया, जव कि अन्य लोग उनके द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्तो को ही सदेह की दृष्टि से देखते है। टरमैन (Terman) के अनुभवो के अनुसार माता पुत्र का सम्बन्ध केवल वालको तक ही नही सीमित है, वल्कि वालिकाओ मे भी प्राय यह देखा जाता है कि वे पिता की अपेक्षा अपनी माता के प्रति अधिक आकर्षित होती हैं। अत यह आकर्षण लैंगिक न होकर सामाजिक है।

पूर्वी देशो मे फ्रायड के इस सिद्धान्त के लिए एक विशाल क्षेत्र है

यहां हम उसकी परीक्षा कर सकते हैं। यहाँ अधिकतर सब लोग सम्मिलित परिवारो मे रहते हैं। इन परिवारो मे अन्य सदस्यो के होने के कारण माता का स्थान उतना महत्वपूर्ण नही होता, जितना पाश्चात्य देशो मे, जिनमे माता-पिता और बच्चो के अतिरिक्त और कोई नही होता। पश्चिमी देशो मे स्तन-पान बिछुडने के बाद प्राय बच्चो के अतिरिक्त और कोई नही होता। पूर्वी देशो मे स्तन-पान बिछुडने के बाद प्राय बच्चो का लालन-पालन पितामही पर छोड दिया जाता है, अत यह देखना आवश्यक है कि बच्चे का आकर्षण किसके प्रति अधिक होगा—माता अथवा अन्य महिला जिसने धात्री का काम किया हो।

सामाजिक प्रभाव

केवल एडलर को छोडकर अन्य समस्त जीव-वैज्ञानिको के सिद्धान्त पर विचार करते समय हमने बच्चे का एक अलग अस्तित्व माना था। फ्रायड के सिद्धान्तो का विश्लेपण करते समय बच्चो के व्यवहार और उनकी सवेगात्मक प्रवृत्ति मे माता-पिता का भी पर्याप्त प्रभाव देखा गया है। लेकिन एक व्यक्ति को अपने माता-पिता के अतिरिक्त एक विशाल समाज का भी सामना करना पडता है, जो उससे एक निश्चित व्यवहार की आशा करता है और इस प्रकार उसे समायोजन करने को बाध्य करता है। सर्वप्रथम एच० कुली (H Cooley) ने समाज के महत्व की ओर ध्यान आकर्षित किया। जिसमे न केवल माता-पिता, भाई-बहिन आदि हैं, बल्कि खेल के साथी और अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं, जिनका प्रभाव व्यक्ति के विकास मे देखा जाता है। कुछ लोगो ने इस पर ध्यान दिया था, लेकिन अभी तक इस पर ठीक खोज नही हुई थी। सम्भवत पारिवारिक प्रभावो से अलग करके इस पर निश्चित विचार करना कठिन है। हमारे व्यक्तित्व और सवेगात्मक जीवन पर बाह्य समाज का कितना प्रभाव है इसका प्रमाण हमे तब मिलता है जब व्यक्ति एक वातावरण छोडकर दूसरे वातावरण मे प्रवेश

करता है। अर्थात् जब वह एक समाज छोडकर दूसरे का सदस्य ब
जाता है, जिसकी सस्कृति बिलकुल भिन्न है और जहाँ पर उसमे बिलकु
भिन्न प्रकार के व्यवहार की आशा की जाती है। विलियम थाम
(William thomas) और फ्लोरियन जेनानिकी (Florian znaniecki
ने कुछ पोलैण्ड के परिवारो का अध्ययन किया जो वहाँ से आकर अमेरिक
मे बस गए थे। उन्होने देखा कि समाज-परिवर्तन से उनके सामाजिक
सगठन और व्यक्तित्व मे भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अभी हाल मे
दो विशाल समूहो का वातावरण-परिवर्तन देखा गया। एक-पूर्वी और
पश्चिम पाकिस्तान से भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे हिन्दू और सिख
परिवारो का आना, दूसरी-हगरा (Hungary) के बहुत से परिवारो का
सयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा और पश्चिम यूरोप के कई देशो मे जाना।
लेकिन भारतवर्ष मे अभी तक इस पर कोई निश्चत अनुसन्धान नही हो
पाया है। हगरी मे यह देखा गया कि इस प्रकार बाध्य होकर स्थान-परि-
वर्तन करने से तीन प्रकार की शक्तियो ने अपना प्रभाव दिखाया। एक
पुराने वातावरण का प्रभाव, दूसरा नए वातावरण का प्रभाव और तीसरा
जिस अवस्था में वातावरण का परिवर्तन हुआ, उसका प्रभाव। इन
तीनो शक्तियो के प्रभाव से व्यक्ति कभी भयभीत और नम्र हो गए हैं,
तथा कभी अपनी असहाय अवस्था के कारण चिन्ता करते हुए अधिक
उग्र और विद्रोही स्वभाव के हो गए हैं।

एक स्थान पर रहने वाले एक साधारण मनुष्य पर सस्कृति का
क्या प्रभाव पड़ता है और स्थान-परिवर्तन से उसका व्यवहार किस प्रकार
बदलता है, इसका भी अध्ययन किया गया है। यदि उसका व्यवहार
साधारण है तो यह उसकी सस्कृति का ही प्रभाव है। जहाँ पर सस्कृति
अधिक प्रभावपूर्ण और निर्देशात्मक है वहाँ पर लोग साधारणत. कुछ
नम्र और भयशील बन जाते हैं। वे अपने सामाजिक और जातीय नियमों
का पालन करते हैं तथा उनमे किसी भी प्रकार का विरोध करने या
अपनी इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति नही होती है। इस प्रकार

उनकी व्यक्तिगत भिन्नता दूर हो जाती है और उस समाज के सभी सदस्यों का व्यवहार प्राय एक-सा होता है। बेनेडिक्ट (Benedict) ने न्यू मैक्सिको के जूनी इण्डियन और मार्गरेट मीड (Margaret Mead) ने न्यू गिनी (New Guinea) के टचाम्बुली (Tchambuli) निवासियो मे यह देखा कि वहाँ की सामाजिक प्रथा के अनुसार पुरुष स्त्रियो से दवकर रहते हैं। भारतवर्ष के उत्तर प्रदेश मे हिमालय तराई मे थारु (Tharu) के निवासियो मे भी यही प्रथा पाई जाती है।

पाश्चात्य देशो मे अपराधी बालको पर विचार करते समय यह देखा गया कि पारिवारिक शिक्षा के अभाव मे बालक अपराधी हो जाते है, न कि सामाजिक प्रथाओ के कारण। सिरिलबर्ट (Cyril Burt) और इच हार्न (Eich horn) ने इस बात की खोज की कि इगलैंड और आस्ट्रेलिया के बाल-अपराधी प्राय उन परिवारो से आए हैं जहाँ माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध बिगडा हुआ है और परिवार विच्छिन्न हैं। इन बच्चों के व्यक्तित्व पर उनके माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रभाव पडा है। यदि माता-पिता मे प्राय झगडा होता हो तो बच्चे अपने को सुरक्षित नही अनुभव करते और उसीके फलस्वरूप वे कुछ अस्वाभाविक और असामाजिक बन जाते हैं। इस क्षेत्र मे केवल उन्ही परिवारो के बच्चो का अध्ययन हुआ जिनमे माता-पिता और अनेक बच्चे ही थे। एक बडे सम्मिलित परिवार मे जहाँ इनके अतिरिक्त अन्य सदस्य भी हो, बच्चो पर इसका क्या प्रभाव पडेगा यह भी विचार करने योग्य है। इस सम्बन्ध से लखनऊ जेल के कैदियो पर अध्ययन किया गया है, लेकिन इसमे बिगडे हुए घर से अपराधियो की सख्या अधिक नही थी। लखनऊ और कानपुर दोनो जगहो के ३०० अपराधियो की पारिवारिक परिस्थितियो के विषय मे अध्ययन करते समय यह देखा गया कि उनमे से १७२ बच्चे ऐसे परिवारो से आए हैं जिनको हम साधारण कह सकते हैं, और केवल १२८ बच्चे ऐसे परिवारो से आए हैं, जिनके घर बिगडे हुए हैं। इनकी सख्या से भी अधिक बडे व्यक्तियो मे

८० प्रतिशत अपराधी ऐसे है जिनके घर की परिस्थिति साधारण है, अर्थात् वे अपने सम्प्रदाय के नियमो का पालन करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ ऐसे वर्ग हैं जहाँ अनुशासन का पालन करते हुए भी अपराध किए जाते है और यही अपराध का कारण है, पारिवारिक सुरक्षा का अभाव उसका कारण नही है। यह भी सम्भव है जिसे हम अपराध कहते हैं वह उनके वर्ग मे अपराध न माना जाता हो। अत इनके वर्ग का अनुशासन विशाल समाज के अनुशासन से भिन्न हो सकता है, और इस प्रकार अपने वर्ग के अनुशासन का पालन करते हुए भी ये लोग विशाल समाज के सामने अपराधी सिद्ध हो सकते हैं। भारतवर्ष मे कुछ जातियो को अपराधी गिना जाता है तथा योरुप की गिप्सी (Gypsies) जाति भी इसी श्रेणी मे आती है। इसके अपने निर्दिष्ट नैतिक आदर्श है, लेकिन विशाल समाज के सामने उनकी गणना अपराधी मे होती है। अपने वर्ग मे हम सव लोगो का व्यवहार प्राय एक-सा है, अत इससे यह स्पष्ट है कि इनके वर्ग की सस्कृति-विशेष ही इनके व्यक्तित्व-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इनके वर्गगत आदर्शो और विशाल समाज के नैतिक आदर्शो मे भेद है।

वच्चो के व्यक्तित्व-निर्माण मे स्कूल का सामाजिक वातावरण भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, यद्यपि घर और आस पास के सामाजिक वातावरण की तुलना मे इसका महत्व कम है। लेकिन हम इसकी एकदम उपेक्षा नही कर सकते। शिक्षा वच्चो की मनोवृत्ति पर प्रभाव डालती है और यह देखा गया है कि विद्यालय के विद्यार्थी का सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण अधिक उदार होता है। हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि किशोरवस्था मे वालको मे वीर पूजा (Hero worship) की भावना अधिक प्रवल होती है। अत इस समय एक आदर्श शिक्षक अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा उनकी विचारधारा वदलकर उनके व्यक्तित्व की उन्नति कर सकता है। जिस वच्चे को शिक्षा एक अच्छे स्कूल मे मिली है तथा एक-दूसरे वच्चे को, जिसको अच्छे स्कूल मे नही मिली है,

तुलना करके देखने पर दोनो के व्यवहार मे महान अन्तर देखा जा सकता है। चरित्रगठन मे भी हम स्कूल का प्रभाव देख सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे व्यक्तित्व-निर्माण मे चाहे शरीर-विज्ञान (Biological) चाहे लिबिडो (Libido) कोई भी अधिक महत्व-पूर्ण हो, पर सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव भी कम महत्वपूर्ण नही है, और हमारा व्यवहार बहुत कुछ इसी के द्वारा निश्चित होता है।

व्यक्तित्व का मूल्यांकन

व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार होता है और उसमे व्यक्ति के शारीरिक संगठन, उसका प्रारम्भिक पालन-पोषण जिसको फ्रायड ने अधिक महत्व दिया है और विशाल समाज का उस पर प्रभाव आदि की चर्चा करने के बाद हम व्यक्तित्व के मूल्याकन की समस्या पर विचार करेंगे।

हम आलपोर्ट की निर्णय-प्रणाली को देख चुके हैं कि इससे कार्य कुछ सरल अवश्य हो जाता है, लेकिन इस पर पूर्णरूप से विश्वास करके इन आदर्शों के आधार पर ठीक-ठीक मूल्याकन करना अनुभव का काम है और एक साधारण विचारक के निर्णय पर पूर्ण विश्वास नही किया जा सकता। लेकिन केवल कठिन होने के कारण हम इस कार्य की उपेक्षा नही कर सकते। व्यक्तित्व का मूल्याकन एक अति आवश्यक विषय है, क्योकि जब हम किसी कार्य के लिए व्यक्ति का निर्वाचन करते हैं, तब न केवल उसकी योग्यता बल्कि उसके व्यवहार का भी ज्ञान होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब हम उसके व्यक्तित्व का ठीक मूल्याकन करेंगे।

मूल्याकन की सबसे सरल विधि साक्षात् परिचय (Interview) है, और प्राय यही विधि प्रयोग मे लाई जाती है। इसमे हम किसी व्यक्ति की साधारण आकृति, उसका शरीर-सचालन (gesture) और स्वर आदि के साथ—भाव-प्रकाशन की अन्य विधियो का भी पता लगा

सकते है। उससे प्रश्न पूछकर उसके ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है तथा साक्षात् परिचय के समय उसका व्यवहार किस प्रकार का है आदि गुणो का मूल्याकन हम एक ही परीक्षा द्वारा कर सकते है। लेकिन इसमे यह कठिनाई है कि एक ही समय हम इतने अधिक गुणो की खोज करते हैं, कि उनमे से कौन-सा गुण अधिक महत्वपूर्ण है, यह पता लगाना कठिन है। जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, निर्णायको मे मतभेद होता है क्योकि प्रत्येक के आदर्श भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त साक्षात् परिचय की स्थिति एक कृत्रिम अवस्था है जिसके आधार पर भविष्य का विचार करना प्राय ठीक नही। कुछ लोगो का ऐसा विचार है कि जिन लोगो ने उन्हे कुछ समय पूर्व से देखा है उनका मत लिया जाए तव निर्णय ठीक होगा। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तिगत विचारो मे सवसे वडा दोष यह देखा गया है कि निर्णय करने वाले की व्यक्तिगत् धारणाओ के कारण पक्षपात् की आशका रहती है। स्वय मूल्याकन (Self-rating) का आविष्कार फ्रेड (Freyed), हिड व्रेडर, आलपोर्ट और वुडवर्थ ने किया, लेकिन वर्नरयूट ने वहुमुखी सिद्धान्त का अन्वेषण किया जिसमे एक व्यक्ति स्वय ही अपने व्यक्तित्व का पता लगाकर अपना मूल्याकन कर सकता है और इस प्रकार अपना स्थान, श्रेणी विभाजन द्वारा निश्चित कर सकता है। इसमे वडी कठिनाई यह कि है श्रेणी-विभजन कुछ मनमाने ढग से किया गया है और यह कहना कठिन है कि वे जिन गुणो का मूल्याकन कर रहे हैं वास्तव मे उनके गुण हैं या नही। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित नही कि विषय (Subject) जो उत्तर देगा वह साधारण परिस्थिति की भाँति देगा या नही। साथ ही प्रश्नावली के ढग से वह यह जान जाता है कि किस प्रकार के उत्तर देने से उसको ऊँची श्रेणी मे स्थान मिलेगा और उसी प्रकार के उत्तर देने का प्रयास करेगा, जो उसके वास्तविक उत्तर नही होगे। स्ट्राग (Strong) और कुडर (Kuder) की रुचिमापक प्रश्नावली (Interest Test) मे भी ऐसा ही होता है।

हम पहले देख चुके हैं कि शारीरिक सगठन से चरित्र का मूल्याकन सदा ठीक नही हो सकता, और इसी प्रकार किसी व्यक्ति का फोटो देखकर हम उसके व्यवहार का ठीक मूल्याकन नही कर सकते। यह देखा गया है कि जव कही विचारक केवल फोटो देखकर मूल्याकन करते हैं तव उनके मूल्याकन, और जिन लोगो का मूल्याकन किया गया है उनके वास्तविक परीक्षाफल मे वहुत अधिक अन्तर देखा गया है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि फोटो के समय व्यक्ति का जो आकार था, वह उसका वास्तविक आकार न हो। इसी प्रकार कठ-स्वर और हस्त-लेखन से भी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का उचित मूल्याकन नही किया जा सकता।

कुछ व्यवहारवादियो का यह विचार है कि यदि हम एक व्यक्ति का व्यवहार वहुत समय तक देखें तो हम उसके विषय मे बहुत से आवश्यक तत्वो का पता लगा सकते हैं। लेकिन इसमे भी वही कठिनाई है कि हम इतने अधिक समय तक किसी के व्यवहार का निरीक्षण नही कर सकते कि जिस पर हम पूर्ण विश्वास कर सके। साधारणत: जिनकी परीक्षा ली जाती है उनको कुछ काम करने को दिया जाता है या परीक्षा के समय उनका व्यवहार देखा जाता है। लेकिन यह परिस्थिति कृत्रिम होती है। फर्न लैंड (Fern Land) ने सहनशीलता की परीक्षा इस प्रकार ली कि एक व्यक्ति अपनी एडी उठाकर कितने समय तक पंजो के वल खडा रह सकता है। मैक डूगल (Mc Daugall) और सुस्टर (Schuster) ने एक गोले की गति को क्रमश बढाते हुए यह देखा कि एक व्यक्ति उसमे कितने अधिक विन्दु डाल सकता है। लेकिन उससे जीवन की समस्त परिस्थितियो का पता नही चल सकता है। उसी प्रकार विने (Binet) और वेशलर (Wechsler) के परीक्षाफल द्वारा भी हम यह नही कह सकते कि उसकी सवेगात्मक स्थिति क्या है, और उस पर कहाँ तक विश्वास किया जाता है।

प्रक्षेपन विधियाँ जैसे युग (Jung) या केन्ट (Kent), रोशानाफ

(Rosanoff) की साहचर्य-परीक्षा (Association Test) अथवा टी० ए० टी० (T A T), सी० ए० टी० (C.A T) या रोसचाश (Rous-chach) अपनी परीक्षा मे परीक्षार्थी से ऐसे असमय मे प्रश्न पूछते हैं कि विषय (Subject) अपने अस्वन्ध मे वहुत-सी आवश्यक सूचनाएँ दे देता है। परन्तु इसका विश्लेपरण करते समय उस परीक्षक के अपने व्यक्तित्व का प्रभाव भी पड सकता है और इस प्रकार उससे भूल हो सकती है। इसके अतिरिक्त साहचर्य-परीक्षा अथवा टी० ए० टी० या सी० ए० टी० परीक्षाएँ कभी सास्कृतिक प्रभावो से मुक्त नही होती हैं।

व्यक्ति क्या है और किन गुणो के कारण एक व्यक्ति दूसरो से भिन्न होता है, इसकी खोज मानव-समाज वहुत दिनो से कर रहा है। शारीरिक सगठन सर्वप्रथम हमारी दृष्टि को आकर्षित करता है, अत सवसे पहले इसी पर हमारी दृष्टि पडी। लेकिन हम देखते हैं कि ग्रीक सभ्यता के काल से ही हमारी दृष्टि मुग्ध के सवेगात्मक जीवन पर पड चुकी थी और उस समय जो विचार किया गया वह वर्तमान काल के ग्रथि से निकलने वाले उत्तेजक रस के सिद्धान्त से वहुत कुछ मिलता है, लेकिन वर्तमान काल मे हमारा सीमित ज्ञान इस पर पूर्णरूप से विचार करने मे असमर्थ है। फिर भी क्रेटसेमर ने शारीरिक गठन के साथ मनुष्य के व्यक्तित्व का जो सम्वन्ध जोडा वह भ्रमपूर्ण है, क्योकि केवल शारीरिक-संगठन से हम मनुष्य के मानसिक गुणो का अनुमान नही लगा सकते। एडलर (Adler) द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त कि शारीरिक सगठन और उस पर सामाजिक प्रभाव कभी-कभी हीनता या गर्व की भावना उत्पन्न करने का कारण सिद्ध होते हैं और इस प्रकार कुछ अश तक व्यक्तित्व वनाने मे समर्थ होते हैं।

दूसरी ध्यान देने की वात यह है कि व्यक्त्वि का विकास किस प्रकार होता है, क्योकि यदि हमे इस बात का पूर्ण ज्ञान होगा तव हम इस प्रकार की परिस्थितियो का निर्माण करेंगे जिनमे बच्चे का पूर्ण ज्ञान होगा, तब हम इस प्रकार की परिस्थितियो का निर्माण करेंगे जिनमे

बच्चे का पूर्ण विकास हो सके। फ्रायड ने इड, अह और विवेक पर लिबिडो (Libido) का प्रभाव देखते हुए यह कहा कि शैशव-काल मे माता-पिता के साथ बच्चे का जो सम्बन्ध होता है वही उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है। लेकिन फ्रायड ने अधिकतर उन्ही परिवारो के बच्चो का अध्ययन किया है जिनमे माता-पिता और बच्चो के अतिरिक्त अन्य सदस्य नही होते और इसी के आधार पर उसने अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है। पूर्वी देशो मे हमारे यहाँ परिवार मे अन्य सदस्य भी होते हैं जो बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विशाल समाज मे रहने वाले बच्चे का व्यक्तित्व किस प्रकार उससे प्रभावित होता है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का बच्चे के व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पडता है, इस प्रकार समाज भी बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण मे भाग लेता है। एक प्रभुत्वशील समाज बच्चे के निजी व्यक्तित्व का नाश कर देता है। यह केवल साधारण दशा मे ही नही बल्कि समाज-विरोधी कार्यों मे भी देखा जाता है। पाश्चात्य देशो मे अपराधी बालक बिगडे हुए घरो से ही अधिक आते है, परन्तु हमारे देश मे वे उन घरो से भी आते हैं जो उनके समाज के अनुसार बिगडे हुए घर नही है। ऐसी अवस्था मे अपराध और नैतिक आदर्श का अन्तर है। यद्यपि यह देखा गया है कि हमारे समाज की सस्कृति हमारे व्यवहार को मुख्य रूप से निश्चित करती है, और यह देखा गया है कि सामाजिक परिस्थितियो मे अन्तर आने से हमारे व्यवहार मे अन्तर आ जाता है। जब कोई व्यक्ति या परिवार एक सस्कृति को छोडकर दूसरी मे प्रवेश करता है तब उसका व्यक्तित्व भी उस परिवर्तन से प्रभावित होता है। साक्षात् परिचय मे हम एक ही परिस्थिति मे व्यक्ति के बहुत से गुणो को जानना चाहते हैं, और स्वभावत. इसी कारण इसका फल उतना अधिक विश्वसनीय नही होता। किसी व्यक्ति के पूर्ण अनुभवो के आधार पर किया गया निर्णय भी ठीक नही होगा, क्योकि उसमे उस व्यक्ति-विशेष की

निजी धारणाएँ भी कार्य करेंगी। आलपोर्ट (Allport) ने चौवीस गुणो की एक सूची वनाकर व्यक्ति का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। लेकिन उसमे दो प्रकार से भ्रम हो सकता है। एक तो परीक्षा करने वाले व्यक्ति का मान-दण्ड उसके अपने आदर्शों के अनुसार होगा, जो भ्रमपूर्ण हो सकता है। दूसरी वात यह है कि जिसकी परीक्षा ली जा रही है वह प्रश्नावली के ढग से यह जान जाएगा कि परीक्षक किस प्रकार के उत्तर चाहता है, और वह उसी प्रकार उत्तर देने का प्रयत्न करेगा, जो सत्य न होने पर भी उसके मूल्याकन को वढा सकते हैं। इस प्रकार उसे व्यक्तित्व का ठीक-ठीक पता नही लग सकता है। परीक्षाफल भी इसी प्रकार भ्रमात्मक सिद्ध होगा, क्योकि यह एक विशेष परिस्थिति का मूल्याकन करता है, सम्पूर्ण जीवन का नही। इसका स्वाभाविक जीवन की परिस्थितियो से वहुत कम सम्वन्ध रहता है।

इस प्रकार हम यह देखते है कि किसी भी एक प्रणाली द्वारा व्यक्तित्व का मूल्याकन ठीक प्रकार से नही हो सकता है। सम्भवत यह उचित ही है, क्योकि व्यक्तित्व इतना व्यापक विषय है कि किसी एक रीति से हम केवल उसके एक ही अश की खोज कर सकते है। इसके अतिरिक्त मूल्याकन विधि इस प्रकार की है कि उसमे दो व्यक्तियो के व्यक्तित्व का सघर्ष होता है—परीक्षार्थी और परीक्षा। इन दोनो का ही सामाजिक और सास्कृतिक जीवन इस पर प्रभाव डालता है। इसी लिए मूल्याकन की विधि कुछ सीमा तक कठिन और भ्रमपूर्ण होती है। अत. अन्त मे यह कहना पडता है कि व्यक्तित्व का मूल्याकन एक महत्वपूर्ण विषय है, फिर भी हम अभी तक उसे ठीक तरह से जानने मे सफल नही हो सके हैं।

चरित्र विकास

Development of Character

चरित्र का स्वरूप

भावों, सवेगो और भावगडो को किसी आदर्श के आधार पर सम्बधित करने को चरित्र कहते हैं। नवजात शिशु अपनी मूलवृत्तियो ही के द्वारा क्रियाशील होता है परन्तु अनुभव-वृद्धि के साथ वह सीखता है कि उसे परिस्थिति के अनुकूल ही क्रिया करनी पडेगी। सर्वप्रथम तो उसे सीखना पडता है कि भोजन अपने नियमित समय पर ही मिलेगा और प्रत्येक वार रोने से न मिलेगा। इसी प्रकार उसे सीखना पडता है कि दूसरे के अधिकारो की भी रक्षा करनी पडती है और उनमे सहयोग करना पडता है। इस प्रकार वच्चो का जीवन अनुशासित और सम्वद्धित होता जाता है। आयु-वृद्धि और अनुभव-वृद्धि के साथ वालको की मूल-प्रवृत्तियाँ वौद्धिक और सामाजिक वनती जाती हैं। सहज प्रवृतियाँ अनेकों वार दोहराई जाने पर भावगडो मे तथा स्थिर वृत्तियो मे सम्वद्धित हो जाती है। प्रत्येक भावगड मे एक वस्तु-विशेष रहता है जैसे स्वदेश-प्रेम वह भावगड हैं जिसमे आत्म-प्रकाशन (Self Assertiveness) कामना, रणप्रवृति इत्यादि मूलप्रवृतियाँ देश के प्रति सम्वद्धित हो जाती है। इस प्रकार के देश-प्रेम, परिवार-प्रेम, शत्रु, द्वेप न्याय-प्रियता आदि भाव-गड वन जाते हैं। फिर इन अनेक भावगडो को भी सूत्रीकृत करना पडता है। ये सव भावगड किसी एक आदर्श मे सम्वद्धित हो जाते हैं। किसी एक ही आदर्श में सभी भावगंडो की सम्वद्धता को चरित्र कहते

हैं। ऐसे तो समाज ने अनेक आदर्शों की रचना की है, जैसे प्रसिद्ध नेता होना, योद्धा होना, खिलाडी होना, लेखक होना, समालोचक होना, इत्यादि बच्चो के चरित्र-विकास मे पहले हमे उन्ही शीलगुणो (Traits) या नैतिक भाव गडो को, जैसे सहयोगी होना, सदाचारी होना, न्यायी होना, आदि गुणो को सिखाना पडता है और उन्हे किसी एक आदर्श को अपनाना सिखाना पडता है। नैतिक गुणो के सिखाने मे पहले बच्चो को सामाजिक नियमो का अनुसरण करना और फिर उन्हे अच्छा जानकर उनके अनुसार आचरण करना सिखाना पडता है। यदि अभ्यास के आधार पर ही बच्चा सहयोगी और परोपकारी हो तो ऐसे बच्चे को नीतिकार या चरित्रवान नही कहा जा सकता। चरित्रवान होने के लिए बच्चे मे या किसी मे भी यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि परोपकार, सहयोग आदि श्रेष्ठ आचार हैं। अब हम चरित्र को बाल-शिक्षा के दृष्टिकोण से जानने की चेष्टा करेंगे।

डयूवे के अनुसार चरित्र मे तीन बातें होती हैं, अर्थात् शारीरिक बल, बौद्धिक सूझ और सवेगात्मक कार्य-प्रेरणा (Emotional Responsiveness) बिना शारीरिक स्वास्थ्य और बल के कोई भी काम नही हो सकता। सहयोग देने के लिए लोगो, को बचाने के लिए, बच्चो के साथ खेलने के लिए शारीरिक स्फूर्ति का होना आवश्यक है। परन्तु हमारी परिस्थिति अति जटिल है। प्रत्येक अवसर पर काम नही किया जा सकता। हमे सीखना है कि विशेष परिस्थितियो के लिए उपयुक्त क्रियाएँ करनी पडती हैं। इसलिए हमे बच्चो को सिखाना पडता है कि वे परिस्थितियो का विश्लेषण कर उनके अनुकूल प्रतिक्रियाएँ करे। परन्तु विश्लेषण कर-उपयुक्त प्रतिक्रियाओ को निर्धारित करने के लिए बौद्धिक विकास आवश्यक हो जाता है। शारीरिक स्फूर्ति और बौद्धिक विकास के साथ नैतिक क्रियाओ के लिए उत्साह भी होना आवश्यक है ताकि प्रत्येक अपने कर्त्तव्य को जानकर उसका पालन कर सके। यदि बुद्धि-विकास और उत्साह भी हो और शारीरिक स्फूर्ति की कमी हो तो ऐसे

व्यक्ति दार्शनिक और विचारक होगे, परन्तु समाज-सुधारक और नीतिवान नही हो सकते। फिर यदि शारीरिक स्वास्थ्य के साथ पैनी बुद्धि हो और उत्साह या उमग न हो, तो ऐसे व्यक्ति कर्मठ तो हो सकते हैं, परन्तु उनके आचरण मे न तो आकर्षण ही है रहता और न व्यक्तियो को प्रोत्साहित करने की शक्ति। इसी प्रकार यदि शारीरिक स्फूर्ति के साथ उमग रहे, परन्तु बौद्धिक-विकास पूरा न हो, तो ऐसे व्यक्ति झक्की तथा आवेश मे होकर काम करने वाले होगे। अत बच्चो को चरित्रवान् बनाने के लिए हमे उनका ऐसा शिक्षण करना पडता है ताकि शारीरिक विकास के साथ उनमे कर्तव्यपरायणता हो, फिर उनकी बुद्धि का विकास ऐसा हो कि वे पक्षपातरहित होकर सभी परिस्थितियो को तोल सकें और उसके साथ समझ सके कि जीवन मे क्या मूल्य रखता है। अन्त मे आदर्श के अनुसार काम करने मे उत्साह और उमग की अनुभूति कर सकने की क्षमता हो सके।

चरित्रवान होने के लिए बच्चो को स्वतत्र स्वावलम्बी और सामाजिक जीव होना पडता है। स्वतत्र और स्वावलम्बी होने के लिए बच्चो मे आरम्भ से ही अच्छी आदतो को डालना चाहिए, जैसे, अपने ही से अकेले और अधेरे मे नियमित समय पर सोना, सफाई से, अपने-आप, पेटभर जो मिले समय पर सामाजिक रीति से भोजन करना, अपने से कपडे पहनना, जूता पहनना इत्यादि। दिनचर्या के विषय मे सभी कामो को कर सकने से बच्चा माता-पिता तथा धाई से स्वतन्त्र हो जाता और उस मे आत्मबल आ जाता है। फिर परोपकारी होने के लिए बच्चो के लिए ऐसी स्थिति खडी करते रहना चाहिए कि वे परस्पर सहायता और सहयोग कर सके। जैसे, गिरे हुए बच्चे को उठाकर उसकी पेंसिल दे देना, या अन्य बच्चो के साथ मिलकर बालू का पुल बनाना आदि। इन्ही विशेष परिस्थितियो मे सहयोग करते-करते सहयोगी होने की आदत पड जाती है। पूर्णरूप से सामाजिक आदर्शो को अपने जीवन का अग
के लिए बच्चो को केवल अभ्यास ही नही, परन्तु माता-पिता

नमूना जानकर उनका अनुकरण करना चाहिए। अत: माता-पिता या गुरुओ को आदर्श-जीव बनाने का प्रयास करना चाहिए ।

चरित्र-निर्माण के अनुशासन

नैतिक गुण और दोष बच्चे के खेलो के द्वारा, कहानियो के द्वारा और परिस्थितियो और विशेषो मे निर्दिष्ट उपयुक्त कार्यो के द्वारा और बडे लोगो के अनुकरण से सीखते हैं। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि बच्चो का अनुशासन मे कैसे हो ? बच्चो के अनुशासन मे निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए —

१ कोई भी अनुशासन हो, परन्तु उसका ध्येय यही हो कि बच्चा आत्म-सयमी (Self Cantrolled) बन सके।

(क) पहली बात तो यह है कि अच्छी आदते आरम्भ से ही किशोरावस्था तक सिखाई जाएँ और इनमे किसी भी प्रकार की त्रुटि न होनी चाहिए। इन आदतो का उल्लेख कई स्थानो पर कर दिया गया है।

(ख) बच्चो को चलने-फिरने की स्वच्छन्ता भी मिलती रहनी चाहिए। बडे होने पर उनके लिए खेलने का खुला मैदान होना चाहिए ।

(ग) बच्चो को आरम्भ ही से ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वे अपना उत्तरदायित्व और आत्मबल समझ सके उन्हे अपने खिलौनो को अपने इच्छानुसार रखने का अवसर देना चाहिए। बडे होने पर उन्हे प्रत्येक सप्ताह पाकेट खर्च मिलना चाहिए जिसे वे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकें। किशोरावस्था प्राप्त कर लेने पर उन्हे अपने मित्रो को चुन लेने की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए ।

(घ) बच्चो के सामने माता-पिता और गुरुजनो को भी अच्छा आदर्श रखना चाहिए क्योकि बच्चे उन्ही व्यक्तियो का सबसे अधिक अनुकरण करते हैं।

२. यदि बच्चो को दण्ड देना आवश्यक ही हो जाय तो निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए। —

(क, बच्चो को दण्ड देने के समय ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा अपने दण्ड का कारण समझ सके। अपने दण्ड न समझने पर उसे आत्म-हीनता का भाव हो जाता है। जैसे, बच्चा कभी-कभी घडी हाथ मे लेकर पटक देता है। उस समय बच्चो पर क्रोध करने से विशेष लाभ नही पहुँचता है। जब खिलौने के पटकने पर आप हंसते हैं तो घडी के पटकने पर आप क्यो रोयें ? बच्चे के लिए तो घडी की वही कीमत है जो उस के खिलौने की है :

(ख बहुत छोटे बच्चो को अपने पहले अपराधो के लिए दण्ड नही देना चाहिए, क्योकि वे उनके मर्म को समझने की योग्यता नही रखते। ऐसे स्थलो पर उन्हे बताना चाहिए कि उनकी गलती कहाँ हुई और सम्भवतः सयुक्त क्रिया को करके दिखला देना चाहिए।

(ग) बार-बार दण्ड से बच्चे बेकार हो जाते हैं। इसलिए दण्ड को सुधारने का उपयोगी साधन बनाने के लिए बच्चो को बहुत ही कम मारना या अन्य प्रकार से दण्डित करना चाहिए। माता-पिता के सुशिक्षित रहने से बच्चो को दण्ड देने का अवसर ही नही आता।

(घ) अनुशासन अपराध के बाद अति शीघ्र होना चाहिए ताकि बच्चा अपराध करना न सीखे। जितना छोटा होगा उतना ही अधिक इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

(च) दण्ड का भय बार-बार नही दिखाना चाहिए। यदि किसी भूल के कारण बच्चा दण्डित हो, तो उसकी याद न दिलवाई जाए। बच्चो मे तो आत्मबल, आत्म-विश्वास और आत्म-मर्यादा को बढाना है। अत ऐसी घटनाओं की स्मृति न कराई जाए जिससे उन्हे आत्म-सम्मान मे ठेस लगे। इसलिए बच्चो को अन्य व्यक्तियो के सामने बुरा-भला नही कहना चाहिए।

३ यदि बच्चो को दण्ड देना आवश्यक हो ही जाए तो निम्नलिखित प्रकार के दण्डो को दिया जा सकता है —

(क) यदि दण्ड प्राकृतिक नियमानुसार स्वय ही हो जाए तो अच्छा

नमूना जानकर उनका अनुकरण करना चाहिए। अतः माता-पिता या गुरुओ को आदर्श-जीव वनाने का प्रयास करना चाहिए ।

चरित्र-निर्माण के अनुशासन

नैतिक गुण और दोष वच्चे के खेलो के द्वारा, कहानियो के द्वारा और परिस्थितियो और विशेषो मे निर्दिष्ट उपयुक्त कार्यो के द्वारा और वडे लोगो के अनुकरण से सीखते हैं। अव यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि वच्चो का अनुशासन मे कैसे हो ? वच्चो के अनुशासन मे निम्नलिखित वातो का ध्यान रखना चाहिए —

१ कोई भी अनुशासन हो, परन्तु उसका ध्येय यही हो कि वच्चा आत्म-सयमी (Self Cantrolled) वन सके।

(क) पहली वात तो यह है कि अच्छी आदते आरम्भ से ही किशोरावस्था तक सिखाई जाएँ और इनमे किसी भी प्रकार की त्रुटि न होनी चाहिए। इन आदतो का उल्लेख कई स्थानो पर कर दिया गया है।

(ख) बच्चो को चलने-फिरने की स्वच्छन्ता भी मिलती रहनी चाहिए। वडे होने पर उनके लिए खेलने का खुला मैदान होना चाहिए।

(ग) बच्चो को आरम्भ ही से ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि वे अपना उत्तरदायित्व और आत्मबल समझ सकें उन्हे अपने खिलौनो को अपने इच्छानुसार रखने का अवसर देना चाहिए। बडे होने पर उन्हे प्रत्येक सप्ताह पाकेट खर्च मिलना चाहिए जिसे वे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकें। किशोरावस्था प्राप्त कर लेने पर उन्हे अपने मित्रो को चुन लेने की पूरी स्वतत्रता मिलनी चाहिए।

(घ) बच्चो के सामने माता-पिता और गुरुजनो को भी अच्छा आदर्श रखना चाहिए क्योकि वच्चे उन्ही व्यक्तियो का सबसे अधिक अनुकरण करते हैं।

२. यदि बच्चो को दण्ड देना आवश्यक ही हो जाय तो निम्नलिखित वातो का ध्यान रखना चाहिए। —

(क, वच्चो को दण्ड देने के समय ध्यान रखना चाहिए कि वच्चा अपने दण्ड का कारण समझ सके। अपने दण्ड न समझने पर उसे आत्म-हीनता का भाव हो जाता है। जैसे, वच्चा कभी-कभी घडी हाथ मे लेकर पटक देता है। उस समय वच्चो पर क्रोध करने से विशेष लाभ नही पहुँ-चता है। जब खिलौने के पटकने पर आप हंसते हैं तो घडी के पटकने पर आप क्यो रोये ? बच्चे के लिए तो घडी की वही कीमत है जो उस के खिलौने की है.

(ख बहुत छोटे वच्चो को अपने पहले अपराधो के लिए दण्ड नही देना चाहिए, क्योकि वे उनके मर्म को समझने की योग्यता नही रखते। ऐसे स्थलो पर उन्हे वताना चाहिए कि उनकी गलती कहाँ हुई और सम्भवतः सयुक्त क्रिया को करके दिखला देना चाहिए।

(ग) वार-वार दण्ड से वच्चे वेकार हो जाते हैं। इसलिए दण्ड को सुधारने का उपयोगी साधन वनाने के लिए वच्चो को वहुत ही कम मारना या अन्य प्रकार से दण्डित करना चाहिए। माता-पिता के सुशिक्षित रहने से वच्चो को दण्ड देने का अवसर ही नही आता।

(घ) अनुशासन अपराध के बाद अति शीघ्र होना चाहिए ताकि वच्चा अपराध करना न सीखे। जितना छोटा होगा उतना ही अधिक इस वात का ध्यान रखना चाहिए।

(च) दण्ड का भय वार-बार नही दिखाना चाहिए। यदि किसी भूल के कारण बच्चा दण्डित हो, तो उसकी याद न दिलवाई जाए। वच्चो मे तो आत्मबल, आत्म-विश्वास और आत्म-मर्यादा को बढाना है। अत ऐसी घटनाओं की स्मृति न कराई जाए जिससे उन्हे आत्म-सम्मान मे ठेस लगे। इसलिए वच्चो को अन्य व्यक्तियो के सामने बुरा-भला नही कहना चाहिए।

३ यदि बच्चो को दण्ड देना आवश्यक हो ही जाए तो निम्नलिखित प्रकार के दण्डो को दिया जा सकता है —

(क) यदि दण्ड प्राकृतिक नियमानुसार स्वय ही हो जाए तो अच्छा

हो। यदि वच्चा गरम दूध के वर्तन को या चाय केतली को छूने का आग्रह करे, तो उसे छूने देना चाहिए। यदि हमारी देख-भाल मे बच्चा छूकर जलेगा तो उसकी वैसी हानि नही होगी जैसी हानि हमारी अनुपस्थिति मे गरम दूध के वर्तन से हो सकती है। थोडी-सी वेदना से उसे अच्छा लाभ हो सकता है। बडे वच्चो को सुखी रखने के लिए या हठ करने के लिए दण्ड न दिया जाए। परन्तु यदि घूमने के लिए जाना है और वह तैयारी देरी से करे तो उसका घूमना वन्द कर दिया जाए। यदि सिनेमा जाना है तो उसका सिनेमा जाना ही स्थगित कर दिया जाए। कभी-कभी यदि वच्चे के न तैयार होने से या सुस्ती करने से आपको ही घूमने या सिनेमा जाने मे देर हो जाए तो वच्चो को सिखाने के लिए आप स्वय अपना घूमना या सिनेमा जाना स्थगित कर दे।

(ख) प्राय किसी काम को करने के लिए उनकी कार्यवाही मे विघ्न नही डालना चाहिए। वडे वच्चो के विषय मे इस वात का ध्यान नही रखते। यदि उनकी कार्यवाही वन्द ही करनी पडे तो यह भी उनके खेल की रीति ही मे होना चाहिए। उदाहरण के लिए हम वच्चे से कह सकते हैं, "अच्छा ! अब मोटर ठहर जाएगी, क्योकि मोटर-ड्राइवर अब खाने जाएँगे।" फिर आज्ञा देते समय विनय का भाव दिखाना चाहिए।

(ग) अच्छे कामो की प्रशसा करते रहना चाहिए। हमेशा झिडकने से और कोसने से वच्चे प्रोत्साहित नहीं होते। कुछ तो वच्चो की आयु पर भी निर्भर करता है। १¾-२½ वर्ष तक के वच्चो मे हठीलापन होता है। फिर ३ वर्ष के वच्चो मे ध्वसक प्रवृत्ति बहुत होती है, क्योकि वे न तो वस्तुओ के मोल को समझते और न उस अवस्था मे कुछ बना ही सकते हैं। अत. बच्चो की प्रवृत्तियो को जानकर उनका अनुशासन करना चाहिए।

(घ) बच्चो को हमेशा बताना चाहिए कि क्यो कुछ कामो को अच्छा कहकर के कहा जा रहा है ताकि वे विचारपूर्ण व्यक्ति बन सकें। फिर हमारे व्यवहार मे सामञ्जस्य, एकविधता (Uniformity) और सुबद्धता

(Consistency) रहनी चाहिए। इसकी महत्ता हमने आदत डालने की विधि मे देख ली है। इस बात पर विशेष ध्यान उस समय रखना चाहिए, जबकि माता-पिता ही मे आपस मे मतभेद रहे। माता कडी अनुशासक हो सकती है, जबकि पिता की नीति ठीक इसके विपरीत हो। इस दशा मे माता-पिता को मिलकर एक ही नीति का पालन करना चाहिए, नही तो बच्चा कुछ सीख न पावेगा।

(च) बच्चो के सामने माता-पिता को झगडना न चाहिए और न बच्चो को ऐसा अवकाश देना चाहिए कि माता-पिता के झगडे मे पडें।

(छ) बराबर अच्छा काम करने के लिए बच्चो को इनाम नही देना चाहिए, नही तो वे लोभी हो जाएँगे और अच्छे कामो के अच्छेपन को नही समझ सकेंगे।

(ज) बच्चो की छोटी-छोटी भूलो पर बराबर ध्यान नही देना चाहिए। कभी-कभी तो बच्चे कुछ काम इसलिए करते हैं कि ये बडों का ध्यान खीच सकें। जब उनकी नटखटी पर ध्यान ही न दिया जाए तो बच्चो को उसका आकर्षण नही रह जाता। अपराधी बालको के सुधार मे यह भी एक विधि लाभप्रद सिद्ध हुई है।

४. अति कडाई और बार-बार दण्ड देने से कुछ बुरे परिणाम देखने मे आते हैं। पहली बात तो यह है कि कडाई से बच्चे सहमे हुए रहते हैं जिससे उनमे झूठ बोलने, धोखा देने और अन्य अपराध करने की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ बच्चे तो बडे होकर हृदयहीन, कठोर और कलहकारी व्यक्ति हो जाते हैं और कुछ उपद्रवी तथा ध्वसक जीव बन जाते हैं। तीसरी बात यह है कि उन बच्चो मे जिनमे आत्मविधान कुछ क्षीण होता है, कठोर अनुशासन से दब्बू और कायर जीव बन जाते हैं। उनमे कल्पना का भी बाहुल्य हो सकता है और काम कर सफलता प्राप्त करने की शक्ति क्षीण पड जाती है।

चरित्र विकास की अवस्थाएँ

चरित्र-विकास मे चार अवस्थाएँ देखी जाती हैं। पहली अवस्था वह है जिसमे सारी प्रतिक्रियाएँ जन्मजात होती हैं और फिर अभिसधान और प्रमाद नियम से परिवर्तित होती जाती हैं। जैसे, मोमवत्ती की ओर हाथ वढाना और उसकी ज्वाला से जलकर मोमवत्ती को फिर न छूना। इस अवस्था मे नाना प्रकार की आदते वच्चो मे डाली जाती हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमे दण्ड और प्रलोभन के आधार पर व्यवहार मे परिवर्तन लाया जाता है। यह अवस्था बच्चो मे लगभग १२ वर्ष तक रहती है। जव वच्चा अच्छी तरह पढता है, तव उसे शावाशी मिलती है और जव बुरा काम करता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। ८ वर्ष से किशोरावस्था तक एक तीसरी अवस्था आती है जिसमे समाज या गुट के नियमो को पालन किया जाता है। बालक अपने गुट की भाँति कपड़े पहनते या खेलते या अन्य व्यवहार करते हैं। जव गुट का नायक किसी वालक विशेष को अपने गुट से निकाल देता है तो उस वालक विशेष के लिए यह वडा दण्ड होता है। चरित्र-विकास की अन्तिम अवस्था वह है जिसमे वालक परहित को अपना हित समझ कर समाज मे सक्रिय होता है। इसे ही चरित्र-विकास की पराकाष्ठा समझी जाती और दधीचि तथा कर्ण और महात्मा गाधी इसके आदर्श हैं। यह कहना वहुत कठिन है कि किस बच्चे मे कव एक अवस्था समाप्त होती है और दूसरी चली आती है। प्राय चारो अवस्थाएँ सभी मे पाई जाती हैं, परन्तु चरित्रवान् व्यक्तियो मे परहित की ही अवस्था विशेषकर पाई जाती है। इसी अन्तिम अवस्था को ही नैतिक अवस्था समझना चाहिए। इसके विकास मे भी दो उपावस्थाएँ देखी जाती हैं—
(१) पहली उपावस्था वह है जिसमे बालक समाज और गुट के नियमो को पालना करने के लिए बाह्य अधिकारियो से विवश किया जाता है।
(२) दूसरी वह अवस्था है जिसमे समाज और गुट के नियमो को अपना-

कर और उन्हे परहित का साधन समझकर उनका पालन किया जाता है। बच्चो को सच्चा परोपकारी बनाने के लिए इन विधियो का पालन करना चाहिए।

(क) बच्चो को ऐसी दशाओ मे रखना चाहिए जिनमे वे गुट के व्यक्तियो से प्रभावित होकर लोक-हितकारी कार्य कर सके।

(ख) फिर बच्चो को गुट मे खेलने के लिए प्रोत्साहित किया जाए ताकि बच्चे गुट के हित को ही अपना हित समझ सके और इस प्रकार परहित को अपना हित समझकर सामाजिक काम कर सके।

(ग) वाक्य-रचनाओ के द्वारा (जैसे, सत्य ही परमधर्म है, या अहिंसा ही सच्चा बल है आदि। बच्चे समाज के नियमो को अपनाते हैं, और उन्हे इन नियमो के अनुसार कार्य करने के लिए प्रोत्साहित भी करना चाहिए। बच्चो का चरित्र-विकास कई घटको पर निर्भर करता है। उनमे आयु, बुद्धि, घर की परिस्थिति, सगी-साथी, स्कूल, खेल-कूद, सिनेमा, अध्ययन आदि प्रमुख घटक (Factors) हैं।

नैतिक विकास

समाज द्वारा निर्धारित नियमो के अनुसार चलना नैतिकता कहा जा सकता है। अतः विभिन्न समाज द्वारा आचरण के लिए निर्धारित विभिन्न नियमो के अनुसार नैतिकता के स्वरूप मे कुछ भेद पाया जाता है ? इस पकार एक ही समाज के विभिन्न वर्गों की नैतिकता के स्वरूप मे भी विभेद पाया जाता है। अच्छे तथा बुरे व्यवहार-सम्बन्धी किसी वर्ग के व्यक्तियो के लिए नैतिक व्यवहार क्या है।

अच्छे नैतिक विकास के लिए आवश्यक बाते

अच्छे नैतिक विकास के लिए कुछ बातो की आवश्यकता होती है। इनकी ओर ब्रेकेनटिज और विनसेण्ट ने इस प्रकार संकेत किया है —

१. यथा सम्भव अच्छा स्वास्थ्य।

२ सवेगात्मक सुरक्षा, दूसरो से प्यार और आदर पाने की प्रवृत्ति।

३. विभिन्न भावनाओ के प्रकाशन के लिए स्वास्थ्यकर साधनो की प्रगति जिससे व्यक्ति अवाछित मार्ग की ओर न झुकें।

४ कुछ आत्म-नियन्त्रण रखना जिससे बचपन-जैसी प्रवृत्तियो पर आवश्यक रोक रखी जा सके।

५ सामाजिक दृष्टिकोण को सदा विस्तार देते रहना जिससे व्यक्ति दूसरो के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता दिखला सके और दूसरो के अधिकारो और सुविधाओ पर ध्यान दे।

६ 'उचित वस्तु' को ही प्राप्त करने के लिए प्रेरणा का रहना और 'उचित कार्यों, को ही करने मे सन्तोष प्राप्त करना।

नैतिकता सीखी जाती है

शिशु न नैतिक होता है और न अनैतिक, वह तो विनैतिक होता है, क्योकि उसका व्यवहार नैतिक नियमो द्वारा अनुशासित नही होता। नैतिक व्यवहार दिखलाने के पहले बालक को यह सीखना चाहिए कि उसका समाज किस वस्तु को अच्छा और किस को बुरा कहता है। यह सब धीरे-धीरे वह अपने मित्रो, शिक्षको तथा माता-पिता से सीखता है। यदि समाज द्वारा मान्य व्यवहार बालक के लिए सुखद है तो वह शीघ्र सीख लेगा और इस प्रकार के व्यवहार दिखलाने की उसकी आदत हो जाएगी। अत उचित पथ-प्रदर्शन और शिक्षण से माता-पिता तथा शिक्षको को यह देखना चाहिए कि सामाजिक सन्दर्भ मे बालको के अनुभव यथासम्भव सुखद हो, तभी वे सरलता से नैतिकता का पाठ सीख सकेंगे। यदि बालक को कोई कार्य करने के विवश किया जाता है तो वह कुछ भी न सीख सकेगा। अतः स्वाभाविक रूप मे ही उसे सब-कुछ सिखाने का प्रयत्न करना चाहिए।

नैतिक विकास के अंग

नैतिक विकास के दो अग किए जा सकते हैं—१. नैतिक व्यव-

हार का विकास और २ नैतिक प्रत्यय का विकास। इन दोनो अगो पर हम नीचे विचार करेंगे।

नैतिक व्यवहार का विकास

सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार व्यवहार पाना वच्चा कई वर्षों मे सीख पाता है। यदि उसके ऊपर मनोवैज्ञानिक नियत्रण रखा गया और उसके विविध अनुभव और सुखद बनाए गए तो वह नैतिक-व्यवहार दिखलाना शीघ्र ही सीख लेगा। ठीक और गलत का ज्ञान आ जाने से ही बालक नैतिक व्यवहार दिखलाने मे समर्थ नही होता। आवश्यक ज्ञान देने के बाद उदाहरण द्वारा यह दिखलाना चाहिए कि उस ज्ञान को कार्यान्वित कैसे किया जाए। कुछ विशिष्ट परिस्थितियो के सदर्भ मे ही बालक को नैतिक-व्यवहार सिखलाया जा सकता है।

नैतिक व्यवहार सीखने के लिए सर्वप्रथम बालक को यह सीखना चाहिए कि घर पर उचित व्यवहार कैसे दिखलाना चाहिए। इसके बाद स्कूल जाने लगने पर उसे स्कूल के नियमो के अनुसार नैतिक व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। तव उसे यह सीखना चाहिए कि खेल के मैदान मे नैतिक व्यवहार का तात्पर्य क्या होता है। यदि घर, स्कूल और खेल के मैदान मे नैतिक नियम समान हुए अर्थात् यदि व्यवहार-सम्बन्धी उनके आदर्शों मे विरोध न हुआ तो बालक शीघ्र ही नैतिक व्यवहारसीख लेगा। यदि उनमे कुछ विरोध होता है तो बालक विस्मित होता है कि एक परिस्थिति मे उसके किसी व्यवहार की क्यो प्रशसा की जाती है और दूसरी परिस्थिति मे उसी प्रकार के व्यवहार की क्यो निन्दा की जाती है। ऐसी स्थिति मे नैतिक प्रत्यय का विकास करना उसके लिए बडा कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बालक को चुपके-चुपके सन्दूक से मिठाई निकालकर खाने की सुविधा दे दी जाती तो वह यह नही समझ पाता कि बालको की पेन्सिल चुराने पर उसे क्यो दण्ड दिया जाता है। कहने का अर्थ यह है कि 'चोरी करना' प्रत्येक स्थिति मे अनैतिक मानना चाहिए, चाहे वह घर मे स्कूल मे अथवा खेल

के मैदान मे हो।

नैतिक व्यवहार को सीखना सयोग पर नही छोडा जा मकता और न इसे वालक के प्रयत्न और भूल-सम्वन्धी अनुभवो पर छोडा जा सकता है। वालक को नैतिक व्यवहार सिखलाने के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तो पर विशेष ध्यान देना चाहिए – (१) नैतिक व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत नियमो पर चलना चाहिए। (२) वच्चे को स्वष्टन यह वतलाना चाहिए कि क्या उचित है क्या अनुचित। (३) समझने योग्य हो जाने पर वालक को यह वतलाना चाहिए कि क्यो कुछ वाते ठीक मानी जाती हैं और दूसरी गलत। (४) वच्चो के पथ-पदर्शन का भार जिनके ऊपर है उन्हे यह देखना चाहिए कि उचित व्यवहार के साथ बच्चो को सुखद अनुभव मिलते हैं और अनैतिक व्यवहार के साथ उन्हे दुखद अनुभव मिलते हैं। अर्थात् नैतिक व्यवहार पर वच्चे को पुरस्कार देना चाहिए अथवा उसकी प्रशसा करनी चाहिए और अनैतिक व्यवहार पर उसे दण्ड देना अथवा उसकी निन्दा करनी चाहिए।

किसी भी आदत निर्माण का यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि इसमे कभी छूट नही देनी चाहिए, अर्थात् आदत को दृढ करने के लिए एक अवसर को भी न खोना चाहिए। नैतिक आदतो के सम्बन्ध मे यही नियम लागू करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के क्रम मे भी विरोध न दिखलाई पडे। जो वात आज गलत मानी जाती है उसे कल भी गलत कहना चाहिए। यदि इस स्थिरता की रक्षा न की गई तो वालक की समझ मे कुछ न आएगा। इस स्थिरता के अभाव मे बहुत से वालक समस्या-वालक हो जाते है, क्योकि वे नही समझ पाते कि उनसे क्या अपेक्षा की जा रही है।

नैतिक प्रत्यय का विकास

नैतिक प्रत्ययो का सीखना अथवा नैतिक विकास विकास का दूसरा अग है। इसमे बालक शाब्दिक रूप मे उचित और अनुचित के सिद्धान्तो को

सीखता है। बहुत छोटे बालक के लिए यह समझना कठिन होता है। जब बालक मे इतनी मानसिक शक्ति आ जाती है कि वह विभिन्न बातो का विश्लेषण और सश्लेषण कर सके तब वह इन सब सिद्धान्तो को समझ सकता है। तभी वह एक परिस्थिति मे लिखे हुए आचरण-नियमों को दूसरी परिस्थिति मे लागू कर सकता है।

चरित्र का विकास

नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास मे बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु नैतिक शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना बडा ही कठिन सिद्ध हुआ है। स्कूल के अन्य विषयो की शिक्षा के आयोजन मे विशेष कठिनाई नही होती, किन्तु नैनिक शिक्षा के सम्बन्ध मे यह समस्या बडी विकट हो जाती है। इसके लिए योग्य शिक्षको का पाना अत्यन्त कठिन है। नैतिक उपदेश देने के पूर्व शिक्षको को उन्हे स्वयम् अपने व्यवहार मे कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिए अन्यथा उनके उपदेश का उल्टा परिणाम होगा। अत नैतिक शिक्षा के लिए उसके सामने अच्छे उदाहरणो का रखना आवश्यक होगा। बालको मे देखकर कुछ करने की प्रवृत्ति होती है इस सम्बन्ध मे महात्मा गाधी का उदाहरण रखना सर्वथा उपयुक्त होगा।

यह उन दिनो की बात है, जब कि गाधीजी की आयु लगभग ८ या १० वर्ष की रही होगी। उनके यहाँ हरिश्चन्द्र नाटक हो रहा था। बस्ती के लडके बराबर देखकर आते और तारीफ करते। बालक मोहन-दास कर्मचन्द की भी इच्छा हुई कि वह सत्यवादी हरिश्चन्द्र का नाटक देखें। अस्तु,माता-पिता की स्वीकृति लेकर नाटक देखने चले गए। नाटक मे महाराजा हरिश्चन्द्र की सच्चाई और उस सच्चाई के कारण राजपाट दे देना तथा खुद को डोम के हाथो बेच देने की दुःखद घटनाओ का वर्णन था। सत्य के पीछे एक राजा ने कितने कष्ट उठाए और अन्त मे उनका क्या प्रतिफल हुआ यह सब कुछ बालक मोहनदास कर्मचन्द के लिए नैतिक शिक्षा का काम किया, यही शिक्षा अन्त मे सच्चाई का एक

ऐसा वृहद रूप धारण किया जिसकी वजह से गाधीजी भविष्य मे सत्य को अपने जीवन मे सदैव प्रमुख स्थान देते रहे। उनका कहना था कि मेरा जीवन सत्य के लिए है। केवल इसी एक घटना ने गाधीजी को महान् पुरुष बनाने मे कितना बडा योगदान दिया वह किसी से छिपा नही है।

बालक मोहनदास कर्मचन्द गाधी को सत्य के लिए किसी उपदेश या पुस्तको मे इसके सम्बन्ध मे पढने की आवश्यकता नही हुई। एक बार की घटना है कि गाधीजी के एक चचेरे भाई जिनसे उनका बहुत प्यार था, अपनी किसी बुरी लत के कारण कुछ कर्ज़दार हो गए। घर वालो की चोरी मे यह कर्ज उन पर हुआ था। केवल गाधीजी को इसका पता था। जिसको रुपया लेना था वह बराबर तकाज़े करने लगा और यहाँ तक कि तरह-तरह की धमकियाँ भी देने लगा। गाधीजी के भाई रुपए देने मे असमर्थ थे, उनकी मजबूरी को देखकर गाधीजी ने अपने हाथ के सोने के कडे मे से थोडा सा सोना काटकर बेच दिया और उसी रकम से अपने भाई का कर्ज अदा कर दिया। किन्तु अपने घर मे इस सम्बन्ध मे किसी से कुछ नही कहा। धीरे-धीरे यह घटना गाधीजी को कष्ट देने लगी और बराबर सत्यवादी हरिश्चन्द्र का देखा हुआ नाटक उनकी आँखो के सामने उसी रूप मे घूमने लगा। एक महाराजा ने सत्य के कारण इतना कष्ट उठाया और एक मैं हूँ कि छोटी-सी बात मे भी सच्चाई को स्थान नही दे सका। यह आत्मिक कष्ट बालक मोहनदास को बुरी तरह हो रहा था। अन्त मे उन्होने निर्णय किया कि जैसे भी हो मैं इस चोरी की घटना का उल्लेख अपने पिताजी से कहूँगा चाहे फिर इसका जो भी नतीजा हो। अन्त मे सत्य की विजय हुई। बालक मोहनदास कर्मचन्द गाधी ने एक पत्र अपने पिताजी को लिखा और सारी घटना को ज्यो-का-त्यो रख दिया, साथ ही उस चोरी के लिए अपने पिताजी से दण्ड भी माँगा। गाधीजी के पिता ने पत्र को पढा और उनकी आँखो मे आँसू छल-छला आए। बडे प्यार से गाधीजी को अपने

पास बुलाया और कहा, "तुमने ऐसा मार्ग अपनाया है कि यदि अपनी पूरी जिन्दगी मे इसको स्थान देते रहे तो इसमे कोई सन्देह नहीं है कि तुम एक दिन अवश्य ससार मे अपनी सच्चाई के कारण इज्जत की नजर से देखे जाओगे।"

जैसा कि हम सभी जानते है गाधीजी के लिए सत्य का क्या मूल्य था। और अन्त तक उन्होने इसका पालन कैसे किया ? यह केवल नैतिक शिक्षा के उस विशेष अग हरिश्चन्द्र नाटक का प्रतिफल था जिसे लडकपन मे गाधीजी ने देखा था और जिसकी सच्चाई की स्थायी छाप उनके हृदय मे हमेशा के लिए कायम हो गई। चरित्र-विकास मे बच्चो के लिए इस प्रकार की घटनाएँ कितनी उपयोगी होती हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण महात्मा गाँधी का जीवन-चरित्र है जिसमे से केवल एक घटना का वर्णन ऊपर किया गया है।

अपने कार्यों के फलस्वरूप बालक अपने आचरण को अच्छा या बुरा मानता है। बडा होने पर बालक को यह समझना चाहिए कि उसके कार्यो का सामाजिक फल क्या होगा। उसे अब यह सोचना चाहिए कि उसके किसी आचरण के बारे मे उसके समूह के लोग क्या सोचेंगे। समूह के सम्पर्क मे आने से बालक को बडा लाभ होता है, क्योकि इस सम्पर्क से वह यह समझ पाता है कि उसके व्यवहार के बारे मे दूसरे क्या सोचते हैं। अपने अथवा दूसरो के कार्यो के औचित्य अथवा अनौचित्य को समझ सकने की योग्यता स्वय अपने व्यक्तिगत अनुभवो से आती है, न कि नैतिक सिद्धान्तो पर दूसरो का प्रवचन सुनने से। बच्चो के नैतिक प्रत्ययो के सम्बन्ध मे कई परीक्षणात्मक अध्ययनो से यह पता चला है कि नैतिक प्रत्ययो और बुद्धि तथा प्रौढता मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैकाले और वाटेकिन्स ने २५०० बालको से सबसे अधिक पापपूर्ण बातो की सूची बनाने के लिए कहा। उन्होने देखा कि नव वर्ष की उम्र तक बच्चो के लिए सब मूर्त और निश्चित होते है। इस अवस्था तक अमूर्त बातो को समझना उनके लिए कठिन होता है। नव वर्ष के बच्चो

के लिए सबसे अधिक पापपूर्ण बातो का सम्बन्ध, माता की अवज्ञा करना अथवा छोटे पशुओ को चोट पहुँचाना था। नव वर्ष के बाद नैतिक विकास का घेरा कुछ और बढ जाता है। उदाहरणार्थ अब बच्चे चोरी करने को बुरा मानते हैं, चाहे जिस वस्तु की चोरी की जाए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब उनमे चोरी करने का सामान्य प्रत्यय बन गया है। बच्चो के उत्तरो से उचित और अनुचित के ज्ञान के स्रोत का अनुमान किया गया और यह देखा गया कि वे इसका ज्ञान बहुधा अपनी माँ से सीखते है। उनके उत्तरो मे पिता की ओर बहुत कम सकेत मिलता है।

'हार्टशोन' और 'मे' द्वारा किए गए कुछ परीक्षणात्मक अध्ययनो से पता चलता है कि नैतिक प्रत्यय के होने से यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति तदनुकूल नैतिक व्यवहार भी दिखलावे। 'हार्टशोन' और 'मे' ने देखा कि धोखा देने के अर्थ को समझ लेने पर विशिष्ट परिस्थिति के आने पर बच्चे अपनी धोखा देने की प्रवृत्ति का सवरण नही कर सके। एक परीक्षा मे ६३३ विद्यार्थियो को नकल करते पाया गया। इनमे ८६ प्रतिशत ने बतलाया कि वे जानते थे कि नकल करना धोखा देना है। अपराधी बालको के सम्बन्ध मे नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार के अन्तर को अच्छी तरह समझा जा सकता है, क्योकि ये लडके बहुधा उचित और अनुचित का ज्ञान रखते हुए भी असामाजिक कार्यों मे भाग लेते हैं। 'बार्टलेट' और हैरिस ने देखा कि हाईस्कूल के विद्यार्थियो तथा अपराधी बालको के नैतिक प्रत्ययो के ज्ञान मे बडी समानता थी। वेबर ने किसी जेल-स्कूल की १२८ लडकियो से एक क्रम मे १६ बुरी बातो की सूची बनाने के लिए कहा। वेबर को उनकी सूचियो से ज्ञात हुआ कि उनमे उतनी नैतिक अन्तर्दृष्टि होती है जितनी कि विश्वविद्यालय की लडकियो मे होती है। इन सब निष्कर्षो का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उचित और अनुचित का ज्ञान किसी को अनैतिक व्यवहार से रोकता नही, अर्थात् नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार मे अन्तर पाया जाता है

दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त कर लेने का तात्पर्य यह नही होता कि व्यक्ति तदनुकूल व्यवहार भी दिखलाएगा ही ।

नैतिक विकास की अवस्थाएँ

विकास की अन्य अवस्थाओ के सदृश नैतिक विकास भी एक क्रम मे चलता है । अत बालको के सम्बन्ध मे यह पूर्व अनुमान किया जा सकता है कि किस अवस्था पर कौनसे नैतिक गुण बालक मे अपेक्षित किए जा सकते हैं । अपने नैतिक विकास के क्रम मे बालक एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे बडे धीरे-धीरे आता है । विकास की एक अवस्था महीनो तक भी चलती है । नीचे नैतिक विकास की केवल तीन प्रधान अवस्थाओ का सक्षेप मे उल्लेख किया जाएगा (१)शैशव मे नैतिकता, (२) प्रारम्भिक बचपन मे नैतिकता और (३) बचपन के अन्तिम दिनो मे नैतिकता ।

शैशव मे नैतिकता

इस अध्याय के प्रारम्भ मे ही यह कहा जा चुका है कि शिशु न तो नैतिक होता है और न अनैतिक, वह तो विनैतिक होता है । अत उसे उचित और अनुचित कार्यों को सीखना है । समाज द्वारा स्वीकृत और अस्वीकृत नैतिक विषयो का अर्थ बालक के लिए कुछ नही होता । उसके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियो द्वारा नियन्त्रित होते हैं । सुख और दुख की अनुभूति के आधार पर वह किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य के विषय मे निर्णय करता है । उसके कार्य से किसे लाभ अथवा हानि होती है । इसकी उसे चिन्ता नही रहती । बिना बुरे परिणाम को जाने बच्चे के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि उसका कोई कार्य बुरा है । वह सोचता है कि उसके व्यवहार का सम्बन्ध ... है और जब तक उसे अपने किसी कार्य का अनुचित अ... तब तक उसमे सुधार लाना वह आवश्यक नही समझता

तीन या चार वर्ष की अवस्था से बच्चा कुछ-कुछ समझने लगता है कि जिसे लोग चाहते हैं वह कार्य अच्छा है, और जिसकी लोग निंदा करते हैं वह कार्य बुरा है। इस समय दूसरो के प्रति किसी कर्त्तव्य की भावना उसमे नही रहती। अतः जो मन मे आता है वही वह करता है। किसी को प्रसन्न करने की भावना उसमे नही रहती। उसके कार्य से यदि दूसरो को किसी प्रकार का दुख पहुँचता है तो उसमे पश्चात्ताप की भावना नही आती।

शैशव मे सम्पत्ति-अधिकार की भावना बच्चे मे नही रहती। बच्चे को जो अच्छा लगता है उसे वह उठा लेता है। वह यह नही सोचता कि वह किसकी वस्तु है। दूसरे के खिलौने का अथवा किसी दूकान के खिलौने को वह बिना सकोच के उठा लेगा। यह सब करने मे उसमे चोरी की भावना नही आती।

बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नैतिकता

तीसरे से छठे वर्ष के अन्दर नैतिक आचरण के कुछ मूल सिद्धान्तों से बच्चो का परिचय हो जाना चाहिए। इस काल मे बच्चे से यह कहना आवश्यक नही है कि कोई कार्य क्यो बुरा है, क्योकि इस समय बच्चे की मानसिक प्रौढता इतनी अधिक नही होती कि वह इन सब बातो को समझ सके। किसी अनुचित कार्य के करने पर उसे कैसा दण्ड मिलता है इसी के आधार पर किसी कार्य के अनौचित्य को वह समझता है। अत उसके वातावरण के लोग जिस प्रकार के कार्य करने पर उसकी प्रशसा करते है वह वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। इस समय उसकी नैतिकता का स्तर केवल यही तक रहता है। इस प्रकार कभी-कभी वह उचित कार्यों को करता है परन्तु वह उनके औचित्य के कारण को नही समझता।

पाँच या छ वर्ष के हो जाने पर बच्चे मे आज्ञाकारिता की आदत छ आ जानी चाहिए। 'अच्छा, बुरा, बहुत ठीक, शरारती, पाजीपन'

इत्यादि शब्दो के प्रयोग से इस समय बच्चे को अच्छे और बुरे का कुछ विचार दिया जासकता है।

नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार का अन्तर इस काल मे देखा जा सकता है। बच्चा स्वयं अच्छे और बुरे की ओर सकेत कर सकता है, परन्तु तदनुसार आचरण दिखलाने मे वह असमर्थ हो सकता है। इस अवस्था पर वह प्रौढो के अधिकार का विरोध करते हुए उनकी अवज्ञा कर सकता है।

बचपन के अन्तिम दिनो मे नैतिकता

समूह के नैतिक विचारो के अनुसार ही बचपन के अन्तिम दिनो मे व्यक्ति के नैतिक विचार होते हैं। छठे वर्ष की उम्र से लेकर किशोर आने के पूर्व तक बालक उसी प्रकार आचरण दिखलाने का प्रयत्न करता है जैसा कि उसका समूह उससे अपेक्षा करता है। दस या बारह वर्ष की अवस्था पर बालक नैतिक नियमो मे निहित सिद्धान्तो को कुछ-कुछ समझने लगता है। विभिन्न परिस्थितियो मे अब वह नैतिक और अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को कुछ हद तक समझ सकता है, परन्तु अब भी अपने कार्यों की नैतिकता को पूर्ण-रूपेण वह नही समझ सकता। अत: अब भी उसे दूसरो के ही निर्णय पर निर्भर रहना पडता है।

दस-बारह वर्ष के बाद बालक ज्यो-ज्यो बडा होता है वह न्याय और आदर के अर्थ को समझने लगता है। अब वह समझने लगता है कि झूठ बोलना, दूसरो की निन्दा करना, गाली देना, कायरता दिखलाना, दूसरो को सताना या हानि पहुँचाना, मित्रो को धोखा देना तथा दूसरों की वस्तुओ को ले लेना बुरा अर्थात् अनैतिक है। अत जो झूठ बोलते हैं, धोखा देते, अथवा चोरी करते हैं उनसे वह घृणा करने लगता है।

'लर्नर' और 'मर्फी' के अनुसार आठ-से-दस वर्ष की अवस्था मे व्यक्ति नैतिकता के दोहरे स्तरो से अनुशासित होता है। उदाहरणार्थ माता और पिता के साथ अपने व्यवहार मे बच्चे इस काल मे दो

सिद्धान्तो के अनुसार चलते हैं। वे पिता से बहुत डरते हैं, अथवा उनकी अवज्ञा की कल्पना वे शीघ्र नही करते। इसके विपरीत माता से वे कम डरते है, क्योकि वे सोचते हैं कि माता उन्हे अधिक प्यार करती हैं और उनके दोषो पर वह विशेष ध्यान नही देती। इस भावनावश माता से झूठ बोलना, उसे किसी बात मे धोखा दे देना उनके लिए कठिन नही होता।